द्रव्यार्थिकनयसमाश्रयणात् । बादरग्रहणमन्तद्दीपकत्वाद् गताशेषगुणस्थानानि बादरकषायाणीति प्रज्ञापनार्थम्, 'सति संभवे व्यभिचारे च विशेषणमर्थवद्भवति' इति न्यायात् । संयतग्रहणमनर्थकमिति चेन्नैष दोषः, संयमस्य पञ्चस्वपि गुणेषु सम्भव एव न व्यभिचार इत्यस्यान्यस्याधिगमोपायस्याभावतस्तदुक्तेः । आद्यं संयतग्रहणमनुवर्तते, ततस्तदवसीयत इति चेत्तर्ह्यस्तु जडजनानुग्रहार्थमिति । यद्येवमुपशान्तकषायादिष्वपि संयतग्रहणमस्त्विति चेन्न, सकषायत्वेन संयतानामसंयतैः साधर्म्यमस्तीति मन्दधियामधः संशयोत्पत्तिसम्भवात् । नोपशान्तकषायादिषु मन्दधियामप्यारेकोत्पद्यते । क्षीणोपशान्तकषायाः संयताः, भावतोऽसंयतैस्संयतानां साधर्म्याभावात् ।

जाय तो व्यवहार ही नहीं चल सकता है, इसलिये द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नियत-संख्यावाले ही गुणस्थान कहे गये हैं ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सूत्रमें जो 'बादर' पदका ग्रहण किया है, वह अन्तदीपक होनेसे पूर्ववर्ती समस्त गुणस्थान बादरकषाय हैं इस बातका ज्ञान करानेके लिये ग्रहण किया है, ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि, जहां पर विशेषण संभव हो अर्थात् लागू पड़ता हो और न देने पर व्यभिचार आता हो, ऐसी जगह दिया गया विशेषण सार्थक होता है, ऐसा न्याय है ।

शंका— इस सूत्रमें संयत पदका ग्रहण करना व्यर्थ है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, संयम पांचों ही गुणस्थानोंमें संभव है, इसमें कोई व्यभिचार दोष नहीं आता है, इस प्रकार जाननेका दूसरा कोई उपाय नहीं होनेसे यहां संयम पदका ग्रहण किया है ।

शंका— 'पमत्तसंजदा' इस सूत्रमें ग्रहण किये गये संयत पदकी यहां अनुवृत्ति होती है, और उससे ही उक्त अर्थका ज्ञान भी हो जाता है, इसलिये फिरसे इस पदका ग्रहण करना व्यर्थ है ?

समाधान— यदि ऐसा है, तो संयत पदका यहां पुनः प्रयोग मन्दबुद्धि जनोंके अनुग्रहके लिये समझना चाहिये ।

शंका— यदि ऐसा है, तो उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानोंमें भी संयत पदका ग्रहण करना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, दशवें गुणस्थानतक सभी जीव कषायसहित होनेके कारण, कषायकी अपेक्षा संयतोंकी असंयतोंके साथ सदृशता पाई जाती है, इसलिये नीचेके दशवें गुणस्थानतक मन्दबुद्धि-जनोंको संशय उत्पन्न होनेकी संभावना है । अतः संशयके निवारणके लिये संयत विशेषण देना आवश्यक है । किंतु ऊपरके उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानोंमें मन्दबुद्धि-जनोंको भी शंका उत्पन्न नहीं हो सकती है, क्योंकि, वहां पर संयत क्षीणकषाय अथवा उपशान्त-कषायही होते हैं, इसलिये भावोंकी अपेक्षा भी संयतोंकी असंयतोंसे सदृशता नहीं पाई जाती है । अतएव यहां पर संयत विशेषण देना आवश्यक नहीं है ।

काश्चित्प्रकृतीरुपशमयति, काश्चिदुपरिष्टादुपशमयिष्यतीति औपशमिकोऽयं गुणः। काश्चित् प्रकृतीः[1] क्षपयति काश्चिदुपरिष्टात् क्षपयिष्यतीति क्षायिकश्च। सम्यक्त्वापेक्षया चारित्रमोहक्षपकस्य क्षायिक एव गुणः, तत्रान्यस्यासम्भवात्। उपशमकस्यौपशमिकः क्षायिकश्च, उभयोरपि तत्राविरोधात्। क्षपकोपशमकयोर्द्वित्वं किमिति नेष्यत इति चेन्न, गुणनिबन्धनानिवृत्तिपरिणामानां साम्यप्रदर्शनार्थं तदेकत्वोक्तेः[2]। उक्तं च–

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एक्कम्मि काल-समए संठाणादीहि[3] जह णिवट्टंति।
ण णिवट्टंति तह च्चिय परिणामेहि मिहो जे हु ॥ ११९ ॥
होंति अणियट्टिणो ते पडिसमयं जस्स एक्क[4] परिणामा।
विमलयर-झाण-हुयवह-सिहाहि णिद्दड्ढ[5]-कम्म-वणा[6] ॥ १२० ॥

इस गुणस्थानमें जीव मोहकी कितनी ही प्रकृतियोंका उपशमन करता है, और कितनी ही प्रकृतियोंका आगे उपशम करेगा, इस अपेक्षासे यह गुणस्थान औपशमिक है। और कितनी ही प्रकृतियोंका क्षय करता है, तथा कितनी ही प्रकृतियोंका आगे क्षय करेगा, इस दृष्टिसे क्षायिक भी है। सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा चारित्रमोहका क्षय करनेवालेके यह गुणस्थान क्षायिकभावरूप ही है, क्योंकि, क्षपकश्रेणीमें दूसरा भाव संभव ही नहीं है। तथा चारित्रमोहनीयका उपशम करनेवालेके यह गुणस्थान औपशमिक और क्षायिक दोनों भावरूप है, क्योंकि, उपशमश्रेणीकी अपेक्षा वहां पर दोनों भाव संभव हैं।

शंका— क्षपकका स्वतन्त्र गुणस्थान और उपशमका स्वतन्त्र गुणस्थान, इस तरह अलग अलग दो गुणस्थान क्यों नहीं कहे गये है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इस गुणस्थानके कारणभूत अनिवृत्तिरूप परिणामोंकी समानता दिखानेके लिये उन दोनोंमें एकता कही है। अर्थात् उपशमक और क्षपक इन दोनोंमें अनिवृत्तिरूप परिणामोंकी अपेक्षा समानता है। कहा भी है—

अन्तर्मुहुर्तमात्र अनिवृत्तिकरणके कालमेंसे किसी एक समयमें रहनेवाले अनेक जीव जिस प्रकार शरीरके आकार, वर्ण आदि रूपसे परस्पर भेदको प्राप्त होते हैं, उस प्रकार जिन परिणामोंके द्वारा उनमें भेद नहीं पाया जाता है उनको अनिवृत्तिकरण परिणामवाले कहते हैं। और उनके प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धिसे बढ़ते हुए एकसे ही (समान विशुद्धिको लिये हुए) परिणाम पाये जाते हैं। तथा वे अत्यन्त निर्मल ध्यानरूप अग्निकी

---

१. नरकद्विकं तिर्यग्द्विकं विकलत्रयं स्त्यानगृद्धित्रयमुद्योतः आतपः एकेन्द्रियं साधारणं सूक्ष्मं स्थावरं चेति षोडश अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानकषाया अष्टौ, क्रमेण षंढवेदः स्त्रीवेदो नोकषायषट्कं, पुंवेदः संज्वलनक्रोधः संज्वलनमानः संज्वलनमाया एताः स्थूले अनिवृत्तिकरणे (सत्त्व–) व्युच्छिन्ना भवन्ति। गो. क., जी. प्र., टी. ३३८-३३९.

२. मु. तदेकत्वोपपत्तेः।

३. प्रा. पं. १, २०। संस्थानवर्णावगाहनलिंगादिभिर्बहिरंगैर्ज्ञानदर्शनादिभिश्चान्तरंगैः। गो. जी., मं. प्र., टी. ५६.

४. मु. जेसिमेक्क.　　५. मु. निद्दद्ध।　　६. प्रा. पं. १, २१। गो. जी. ५७

इदानीं कुशीलेषु पाश्चात्यगुणप्रतीपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

सुहुम-सांपराइय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा ॥ १८ ॥

सूक्ष्मश्चासौ साम्परायश्च सूक्ष्मसाम्परायः। तं प्रविष्टा शुद्धिर्येषां संयतानां ते सूक्ष्मसाम्परायप्रविष्टशुद्धिसंयताः। तेषु सन्ति उपशमकाः क्षपकाश्च। सर्वे त एकगुणः,[1] सूक्ष्मसाम्परायत्वं प्रत्यभेदात्। अपूर्व इत्यनुवर्तते अनिवृत्तिरिति च। ततस्ताभ्यां सूक्ष्मसाम्परायो[2] विशेषयितव्यः, अन्यथातीतगुणेभ्यस्तस्याधिक्यानुपपत्तेः।

शिखाओंसे कर्म-वनको भस्म करनेवाले होते हैं ॥ ११९–१२० ॥

अब कुशील जातिके मुनियोंके अन्तिम गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सूक्ष्म-सांपराय-प्रविष्ट-शुद्धी-संयतोंमें उपशमक और क्षपक दोनों हैं ॥ १८ ॥

सूक्ष्मकषायको सूक्ष्मसांपराय कहते हैं। उसमें जिन संयतोंकी शुद्धिने प्रवेश किया है उन्हें सूक्ष्म-सांपराय-प्रविष्ट-शुद्धी-संयत कहते हैं। उनमें उपशमक और क्षपक दोनों होते हैं। और सूक्ष्मसांपरायकी अपेक्षा उनमें भेद नहीं होनेसे उपशमक और क्षपक इन दोनोंका एक ही गुणस्थान होता है। इस गुणस्थानमें अपूर्व और अनिवृत्ति इन दोनों विशेषणोंकी अनुवृत्ति होती है। इसलिये ये दोनों विशेषण भी सूक्ष्म-सांपराय-शुद्धि-संयतके साथ जोड़ लेना चाहिये। अन्यथा पूर्ववर्ती गुणस्थानोंसे इस गुणस्थानकी कोई भी विशेषता नहीं बन सकती है।

विशेषार्थ— यदि दशवें गुणस्थानमें अपूर्व विशेषणकी अनुवृत्ति नहीं होगी तो उसमें प्रतिसमय अपूर्व अपूर्व परिणामोंकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। और अनिवृत्ति विशेषणकी अनुवृत्ति नहीं मानने पर एक समयवर्ती जीवोंके परिणामोंमें समानता और कर्मोंके क्षपण और उपशमनकी योग्यता सिद्ध नहीं होगी। इसलिये पूर्व गुणस्थानोंसे इसमें सर्वथा-भिन्न जातिके ही परिणाम होते हैं इस बातके सिद्ध करनेके लिये अपूर्व और अनिवृत्ति इन दो विशेषणोंकी अनुवृत्ति कर लेना चाहिये। इस प्रकार इस गुणस्थानमें अपूर्वता, अनिवृत्तिपना और सूक्ष्मसांपरायपनारूप विशेषता सिद्ध हो जाती है।

१ मु. एको गुणः।

२ संज्वलनलोभस्य अणूनसंख्येयतमस्य खण्डस्यासंख्येयानि खण्डानि वेदयमानोऽनुभवन् उपशमकः क्षपको वा भवति। सोऽन्तर्मुहूर्तं कालं यावत्सूक्ष्मसंपरायो भण्यते। × × सुहुमसंपराइयं जो वच्चति सो सुहुमसंपरागो। सुहुमं नाम थोवं। कहं थोवं ? आउयमोहणिज्जवज्जाओ छ कम्मपयडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ अप्पकालट्ठितिकाओ महाणुभावाओ अप्पदेसगाओ सुहुमसंपरागस्स बज्झाति। एवं थोवं संपराइयं कम्मं तं स बज्झाति। सुहुमो संपरागो वा जस्स सो सुहुमसंपरागो, सो य असंखेज्जसमइओ अंतोमुहुत्तिओ विसुज्झमाणपरिणामो वा पडियत्तमाणपरिणामो वा भवति ति। अभि. रा. को. [सुहुमसंपराय]

प्रकृतीः काश्चित्क्षपयति[1] क्षपयिष्यति क्षपिताश्चेति क्षायिकगुणः । काश्चिदुपशमयति उपशमयिष्यति उपशमिताश्चेत्यौपशमिकगुणः । सम्यग्दर्शनापेक्षया क्षपकः क्षायिकगुणः, उपशमकः औपशमिकगुणः क्षायिकगुणो वा, द्वाभ्यामपि सम्यक्त्वाभ्यामुपशम-श्रेण्यारोहणसम्भवात् । संयतग्रहणस्य पूर्ववत्साफल्यमुपदेष्टव्यम् उक्तं च–

पुव्वापुव्व-फद्दय-अणुभागादो अणंत-गुण-हीणे ।
लोहाणुम्हि ट्ठियओ हंद सुहुम-संपराओ सो[2] ॥ १२१ ॥

साम्प्रतमुपशमश्रेण्यन्त्यगुणप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था ॥ १९ ॥

उपशान्तः कषायो येषां त उपशान्तकषायाः । वीतो विनष्टो रागो येषां ते वीतरागाः । छद्म ज्ञानदृगावरणे, तत्र तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः । वीतरागाश्च ते छद्मस्थाश्च वीतरागछद्मस्थाः । एतेन सरागछद्मस्थनिराकृतिरवगन्तव्या । उपशान्त-

इस गुणस्थानमें जीव कितनी ही प्रकृतियोंका क्षय करता है, आगे क्षय करेगा और पूर्वमें क्षय कर चुका, इसलिये इसमें क्षायिकभाव है । तथा कितनी ही प्रकृतियोंका उपशम करता है, आगे उपशम करेगा और पहले उपशम कर चुका, इसलिये इसमें औपशमिक भाव है। सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा क्षपक श्रेणीवाला क्षायिकभावसहित है। और उपशमश्रेणीवाला औपशमिक तथा क्षायिक इन दोनों भावोंसे युक्त है, क्योंकि, दोनों ही सम्यक्त्वोंसे उपशमश्रेणीका चढ़ना संभव है । इस सूत्रमें ग्रहण किये गये संयत पदकी पूर्ववत् अर्थात् अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें बतलाई गई संयत पदकी सफलताके समान सफलता समझ लेना चाहिये । कहा भी है---

पूर्वस्पर्धक और अपूर्वस्पर्धकके अनुभागसे अनन्तगुणे हीन अनुभागवाले सूक्ष्मलोभमें जो स्थित है उसे सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती जीव समझना चाहिये ॥ १२१ ॥

अब उपशमश्रेणीके अन्तिम गुणस्थानके प्रतिपादनार्थ आगेका सूत्र कहते हैं---

सामान्यसे उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ जीव हैं ॥ १९ ॥

जिनकी कषाय उपशान्त हो गई है उन्हें उपशान्तकषाय कहते हैं । जिनका राग नष्ट हो गया है उन्हें वीतराग कहते हैं । छद्म ज्ञानावरण और दर्शनावरणको कहते हैं, उनमें जो रहते हैं उन्हें छद्मस्थ कहते हैं । जो वीतराग होते हुए भी छद्मस्थ होते हैं उन्हें वीतरागछद्मस्थ कहते हैं । इसमें आये हुए वीतराग विशेषणसे दशम गुणस्थान तकके सरागछद्मस्थोंका निराकरण समझना चाहिये । जो उपशान्तकषाय होते हुए भी वीतरागछद्मस्थ होते हैं उन्हे

१. सूक्ष्मसाम्परायै सूक्ष्मसंज्वलनलोभः, गो. क., जी. प्र., टी. ३३९.

२. प्रा. पं. १, २३ । पुव्वापुव्वप्फड्डयबादरसुहुमगयकिट्टिअणुभागा । हीणकमाणंतगुणेणवरादु वरं च हेट्ठस्स ॥ गो. जी. ५९.

कषायाश्च ते वीतरागछद्मस्थाश्च उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थाः[1]। एतेनोपरितन-गुणव्युदासोऽवगन्तव्यः। एतस्योपशमिताशेषकषायत्वादौपशमिकः, सम्यक्त्वापेक्षया क्षायिकः औपशमिको वा गुणः। उक्तं च

सकयगहलं जलं वा सरए सरवाणियं व णिम्मलए[2]
सयलोवसंत-मोहो उवसंत-कसायओ होई[3] ॥ १२२ ॥

निर्ग्रन्थगुणप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह–

खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था[4] ॥ २० ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

क्षीणः कषायो येषां ते क्षीणकषायाः। क्षीणकषायाश्च ते वीतरागाश्च

उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ कहते हैं। इससे (उपशान्तकषाय विशेषणसे) आगेके गुणस्थानोंका निराकरण समझना चाहिये।

इस गुणस्थानमें संपूर्ण कषायें उपशान्त हो जाती हैं, इसलिये इसमें औपशमिक भाव है। तथा सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा औपशमिक और क्षायिक दोनों भाव हैं। कहा भी है–

निर्मली फलसे युक्त निर्मल जलकी तरह, अथवा शरद् ऋतुमें निर्मल होनेवाले सरोवरके जलकी तरह, संपूर्ण मोहनीय कर्मके उपशमसे उत्पन्न होनेवाले निर्मल परिणामोंको उपशान्तकषाय गुणस्थान कहते हैं ॥ १२२ ॥

अब निर्ग्रन्थगुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे क्षीण-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ जीव हैं ॥ २० ॥

जिनकी कषाय क्षीण हो गई है उन्हें क्षीणकषाय कहते हैं। जो क्षीणकषाय होते हुए

---

१ अस्मिश्च गुणस्थानेऽष्टाविंशतिरपि मोहनीयप्रकृतयः उपशान्ता ज्ञातव्याः। उपशान्तकषायश्च जघन्येनैकं समयं भवति, उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तं कालं यावत्। तत ऊर्ध्वं नियमादसौ प्रतिपतति। प्रतिपातश्च द्वेधा, भवक्षयेण अद्धाक्षयेण च। तत्र भवक्षयो म्रियमाणस्य, अद्धाक्षय उपशान्ताद्धायां समाप्तायाम्। अद्धाक्षयेण च प्रतिपतति यथैवारूढस्तथैव प्रतिपतति यत्र यत्र बन्धोदयोदीरणा व्यवच्छिन्नास्तत्र तत्र प्रतिपतता सता ते आरभ्यन्त इति यावत् ॥ × × यः पुनर्भवक्षयेण प्रतिपतति स प्रथमसमये सर्वाण्यपि बन्धनादीनि करणानि प्रवर्तयतीति विशेषः। अभि. रा. को.। (उवसंतकसायवीयरागच्छउमत्थगुणट्ठाण)

२ मु. णिम्मलयं।

३ प्रा. पं. १, २४। गो. जी. ६१. परं च तत्र प्रथमचरणे 'कदक-फल-जुद-जलं-वा' इति पाठः।

४ क्षीणा अभावमापन्नाः कषाया यस्य स क्षीणकषायः। तच्चान्येष्वपि गुणस्थानकेषु क्षपकश्रेणीद्वारोक्तयुक्त्या क्वापि कियतामपि कषायाणां क्षीणत्वसंभवात् क्षीणकषायव्यपदेशः संभवति। ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणं, क्षीणकषायवीतरागत्वं च केवलिनोऽप्यस्तीति तद्व्यवच्छेदार्थं छद्मस्थग्रहणम्। यद्वा छद्मस्थस्य रागोऽपि भवतीति तदपनोदार्थं वीतरागग्रहणं। वीतरागश्चासौ छद्मस्थश्च वीतरागछद्मस्थः स चोपशान्तकषायोऽप्यस्तीति तद्व्यवच्छेदार्थं क्षीणकषायग्रहणम्। अभि. रा. को. [खीणकसायवीयरायछउमत्थ]

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
क्षीणकषाय-वीतरागाः। छद्मनि आवरणे तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः। क्षीणकषायवीतरागाश्च ते छद्मस्थाश्च क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थाः। छद्मस्थग्रहणमन्तदीपकत्वादतीताशेषगुणानां सावरणत्वस्य सूचकमित्यवगन्तव्यम्। क्षीणकषाया हि वीतरागा एव, व्यभिचाराभावाद्वीतरागग्रहणमनर्थकमिति चेन्न, नामादिक्षीणकषायविनिवृत्तिफलत्वात्। पञ्चसु गुणेषु कस्मादस्य प्रादुर्भाव इति चेद्द्रव्यभावद्वैविध्यादुभयात्मकमोहनीयस्य निरन्वयविनाशात्क्षायिकगुणनिबन्धनः। उक्तं च—

णिस्सेस-खीण-मोहो फलिहामल[1]-भायणुदय-समचित्तो।
खीण-कसाओ भण्णइ णिग्गंथो[2] वीयराएहि ॥ १२३ ॥

स्नातकगुणप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

सजोगकेवली ॥ २१ ॥

वीतराग होते हैं उन्हें क्षीणकषायवीतराग कहते हैं। जो छद्म अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरणमें रहते हैं उन्हें छद्मस्थ कहते हैं। जो क्षीणकषाय वीतराग होते हुए छद्मस्थ होते हैं उन्हें क्षीण-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ कहते हैं। इस सूत्रमें आया हुआ छद्मस्थ पद अन्तदीपक है, इसलिये उसे पूर्ववर्ती समस्त गुणस्थानोंके सावरणपनेका सूचक समझना चाहिये।

शंका—- क्षीणकषाय जीव वीतराग ही होते हैं, इसमें किसी प्रकारका भी व्यभिचार नहीं आता, इसलिये सूत्रमें वीतराग पदका ग्रहण करना निष्फल है ?

समाधान—- नहीं, क्योंकि, नाम, स्थापना आदि रूप क्षीणकषायकी निवृत्ति करना यही इस सूत्रमें वीतराग पदके ग्रहण करनेका फल है। अर्थात् इस गुणस्थानमें नाम, स्थापना और द्रव्यरूप क्षीणकषायका ग्रहण नहीं है, किंतु भावरूप क्षीणकषायोंका ही ग्रहण है, इस बातके प्रगट करनेके लिये सूत्रमें वीतराग पद दिया है।

शंका—- पांच प्रकारके भावोंमेंसे किस भावसे इस गुणस्थानकी उत्पत्ति होती है ?

समाधान—- मोहनीय कर्मके दो भेद हैं- द्रव्यमोहनीय और भावमोहनीय। इस गुणस्थानके पहले दोनों प्रकारके मोहनीय कर्मोंका निरन्वय (सर्वथा) नाश हो जाता है, अतएव इस गुणस्थानकी उत्पत्ति क्षायिक गुणसे है। कहा भी है—

जिसने संपूर्ण अर्थात् प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्धरूप मोहनीय कर्मको नष्ट कर दिया है, अतएव जिसका चित्त (आत्मा) स्फटिकमणिके निर्मल भाजनमें रक्खे हुए जलके समान निर्मल है, ऐसे निर्ग्रन्थको वीतरागदेवने क्षीणकषायगुणस्थानवर्ती कहा है ॥ १२३ ॥

अब स्नातकोंके गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—-

सामान्यसे सयोगकेवली जीव हैं ॥ २१ ॥

१ मु. फलियामल

२ प्रा. पं. १,२५। ग्रथ्नन्ति रचयन्ति संसारकारणं कर्मबन्धमिति ग्रन्थाः परिग्रहाः मिथ्यात्ववेदादयः अन्तरंगाश्चतुर्दश, बहिरंगाश्च क्षेत्रादयो दश, तेभ्यो निष्क्रान्तः सर्वात्मना निवृत्तो निर्ग्रन्थ इति। गो. जी., मं. प्र., टी. ६२.

केवलं केवलज्ञानम् । कथं नामैकदेशात्सकलनाम्ना प्रतिपद्यमानस्यार्थस्यावग-[1]तिरिति चेन्न, बलदेवशब्दवाच्यस्यार्थस्य तदेकदेशदेवशब्दादपि प्रतीयमानस्योपलम्भात् । न च दृष्टेऽनुपपन्नता, अव्यवस्थापत्तेः । केवलमसहायमिन्द्रियालोकमनस्कारनिरपेक्षम्, तदेषामस्तीति केवलिनः । मनोवाक्कायप्रवृत्तिर्योगः, योगेन सह वर्तन्त इति सयोगाः । सयोगाश्च ते केवलिनश्च सयोगकेवलिनः । सयोगग्रहणमधस्तनसकलगुणानां सयोगत्वप्रतिपादकम्, अन्तदीपकत्वात् । क्षपिताशेषघातिकर्मत्वान्निःशक्तीकृतवेदनीयत्वान्नष्टाष्टकर्मावयवषष्टिकर्मत्वाद्वा क्षायिकगुणः । उक्तं च——

केवलणाण-दिवायर-किरण-कलाव-प्पणासियण्णाणो[2] ।
णवकेवल-लद्धुग्गम-सुजणिय-परमप्प-ववएसो[3] ॥ १२४ ॥

मार्गदर्शक- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

केवल पदसे यहां पर केवलज्ञानका ग्रहण किया है ।

शंका—— नामके एकदेशके कथन करनेसे संपूर्ण नामके द्वारा कहे जानेवाले अर्थका बोध कैसे संभव है ?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, बलदेव शब्दके वाच्यभूत अर्थका, उसके एकदेशरूप 'देव' शब्दसे भी बोध होना पाया जाता है। और इस तरह प्रतीति-सिद्ध बातमें, 'यह नहीं बन सकता है' इस प्रकार कहना निष्फल है, अन्यथा सब जगह अव्यवस्था हो जायगी ।

जिसमें इन्द्रिय, आलोक और मनकी अपेक्षा नहीं होती है उसे केवल अथवा असहाय कहते हैं । वह केवल अथवा असहाय ज्ञान जिनके होता है, उन्हें केवली कहते है । मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको योग कहते हैं। जो योगके साथ रहते हैं उन्हें सयोग कहते हैं। इस तरह जो सयोग होते हुए केवली हैं उन्हें सयोगकेवली कहते हैं । इस सूत्रमें जो सयोग पदका ग्रहण किया है वह अन्तदीपक होनेसे नीचेके संपूर्ण गुणस्थानोंके सयोगपनेका प्रतिपादक है । चारों घातिया कर्मोंके क्षय कर देनेसे, वेदनीय कर्मके निःशक्त कर देनेसे, अथवा आठों ही कर्मोंके अवयवरूप साठ उत्तर-कर्म-प्रकृतियोंके नष्ट कर देनेसे इस गुणस्थानमें क्षायिक भाव होता है ।

विशेषार्थ—— यद्यपि अरहंत परमेष्ठीके चारों घातिया कर्मोंकी सैंतालीस, नामकर्मकी तेरह और आयुकर्मकी तीन, इस तरह त्रेसठ प्रकृतियोंका अभाव होता है । फिर भी यहां साठ कर्मप्रकृतियोंका अभाव बतलाया है । इसका ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये कि आयुकी तीन प्रकृतियोंके नाशके लिये प्रयत्न नहीं करना पडता है । मुक्तिको प्राप्त होनेवाले जीवके एक मनुष्यायुको छोड़कर अन्य आयुकी सत्ता ही नहीं पाई जाती है, इसलिये यहां पर आयुकर्मकी तीन प्रकृतियोंकी अविवक्षा करके साठ प्रकृतियोंका नाश बतलाया गया है । कहा भी है——

जिसका केवलज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोंके समूहसे अज्ञानरूपी अन्धकार सर्वथा नष्ट

---

१. स्यावगम इति ।

२. अनेन सयोगभट्टारकस्य भव्यलोकोपकारकत्वलक्षणपरार्थसंपत्प्रणीता । गो. जी., जी. प्र., टी. ६३.

३. प्रा. प. १, २७ । (अनेन पदेन) भगवदर्हत्परमेष्ठिनोऽनन्तज्ञानादिलक्षणस्वार्थसंपत् प्रदर्शिता । गो. जी., जी. प्र., टी. ६३

असहाय-णाण-दंसण-सहिओ इदि केवली हु जोएण।
जुत्तो त्ति सजोगो इदि अणाइ-णिहणारिसे उत्तो'॥ १२५ ॥

साम्प्रतमन्त्यस्य गुणस्य स्वरूपनिरूपणार्थमर्हन्मुखोद्गतार्थं गणधरदेवग्रथित-शब्दसन्दर्भं प्रवाहरूपतयानिधनतामापन्नमशेषदोषव्यतिरिक्तत्वादकलङ्कमुत्तरसूत्रं पुष्पदन्तभट्टारकः प्राह--

अजोगकेवली ॥ २२ ॥

न विद्यते योगो यस्य स भवत्ययोग[2]। केवलमस्यास्तीति केवली। अयोगश्चासौ केवली च अयोगकेवली। केवलीत्यनुवर्तमाने पुनः केवलिग्रहणं न कर्तव्यमिति चेन्नैष दोषः, समनस्केषु ज्ञानं सर्वत्र सर्वदा मनोनिबन्धनत्वेन प्रतिपन्नं प्रतीयते च। सति चैवं नायोगिनां केवलज्ञानमस्ति, तत्र मनसोऽसत्वादिति विप्रति-

---

हो गया है, और जिसने नव केवल-लब्धियोंके प्रगट होनेसे 'परमात्मा' इस संज्ञाको प्राप्त कर लिया है, वह इन्द्रिय आदिकी अपेक्षा न रखनेवाले ऐसे असहाय ज्ञान और दर्शनसे युक्त होनेके कारण केवली और तीनों योगोंसे युक्त होनेके कारण सयोगी कहा जाता है, ऐसा अनादिनिधन आर्षमें कहा है।॥ १२४-१२५॥

अब पुष्पदन्त भट्टारक अन्तिम गुणस्थानके स्वरूपके निरूपण करनेके लिये, अर्थरूपसे अरहंत-परमेष्ठीके मुखसे निकले हुए, गणधरदेवके द्वारा गूंथे गये शब्द-रचनावाले, प्रवाहरूपसे कभी भी नाशको नहीं प्राप्त होनेवाले और संपूर्ण दोषोंसे रहित होनेके कारण निर्दोष ऐसे आगेके सूत्रको कहते हैं---

सामान्यसे अयोगकेवली जीव हैं ॥ २२ ॥

जिसके योग विद्यमान नहीं है उसे अयोग कहते हैं। जिसके केवलज्ञान पाया जाता है उसे केवली कहते हैं। जो योग रहित होते हुए केवली होता है उसे अयोगकेवली कहते हैं।

शंका---- पूर्वसूत्रसे केवली पदकी अनुवृत्ति होने पर इस सूत्रमें फिरसे केवली पदका ग्रहण नहीं करना चाहिये ?

समाधान--- यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, समनस्क जीवोंके सर्व-देश और सर्व-कालमें मनके निमित्तसे उत्पन्न होता हुआ ज्ञान स्वीकार किया गया है और प्रतीत भी होता है, इस प्रकारके नियमके होनेपर, अयोगियोंके केवलज्ञान नहीं होता है, क्योंकि, यहां पर मन नहीं पाया जाता है, इसप्रकार विवादग्रस्त शिष्यको अयोगियोंमें केवलज्ञानके अस्तित्वके प्रतिपादनके लिये

---

१. प्रा. पं. १, २९। गो. जी. ६४.

२. योगः अस्यास्तीति योगी, न योगी अयोगी, अयोगी केवलिजिनः इत्यनुवर्तनात् अयोगी चासौ केवलिजिनश्च अयोगिकेवलिजिनः। गो. जी., जी. प्र., टी १०.

पन्नस्य शिष्यस्य तदस्तित्वप्रतिपादनफलत्वात् । कथं वचनात्तदस्तित्वमवगम्यत इति चेच्चक्षुषा स्तम्भादेरस्तित्वं कथमवगम्यते ? तत्प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेश्चक्षुषा समुपलब्धमस्तीति चेत्तर्ह्यत्रापि वचनस्य प्रामाण्यान्यथानुपपत्तेः समस्ति वचने वाच्यमिति समानमेतत् । वचनस्य प्रामाण्यमसिद्धम्,[1] क्वचिद् विसंवाददर्शनादिति चेन्न, चक्षुषोऽपि प्रामाण्यमसिद्धं तस्यापि[2] क्वचिद्विसंवाददर्शनत्वं प्रति ततोऽविशेषात् । यदविसंवादि चक्षुस्तत्प्रमाणमिति चेन्न, सर्वेषामपि चक्षुषां सर्वत्र सर्वदा अविसंवादस्यानुपलम्भात् । यत्र यदाविसंवादः[3] समुपलभ्यते चक्षुषस्तत्र तदा तस्य प्रामाण्यमिति चेद्यदि क्वचित्कदाचिदविसंवादिनश्चक्षुषोऽपि प्रामाण्यमिष्यते दृष्टादृष्टविषये सर्वत्र

....

इस सूत्रमें फिरसे केवली पदका ग्रहण किया ।

शंका— इस सूत्रमें केवली इस वचनके ग्रहण करनेमात्रसे अयोगी-जिनके केवलज्ञानका अस्तित्व कैसे जाना जाता है ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समाधान— यदि यह पूछते हो तो हम भी पूछते हैं कि चक्षुसे स्तम्भ आदिके अस्तित्वका ज्ञान कैसे होता है ? यदि कहा जाय, कि चक्षुज्ञानमें अन्यथा प्रमाणता नहीं आ सकती, इसलिये चक्षुद्वारा गृहीत स्तम्भादिकका अस्तित्व है, ऐसा मान लेते हैं । तो हम भी कह सकते हैं कि अन्यथा वचनमें प्रमाणता नहीं आ सकती है, इसलिये वचनके रहने पर उसका वाच्य भी विद्यमान है, ऐसा भी क्यों नहीं मान लेते हो, क्योंकि, दोनों बातें समान हैं ।

शंका— वचनकी प्रमाणता असिद्ध है, क्योंकि, कहीं पर वचनमें भी विसंवाद देखा जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इस पर तो हम भी ऐसा कह सकते हैं, कि चक्षुकी प्रमाणता असिद्ध है, क्योंकि, वचनके समान चक्षुमें भी कहीं पर विसंवाद प्रतीत होता है ।

शंका— जो चक्षु अविसंवादी होता है उसे ही हम प्रमाण मानते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, सभी चक्षुओंका सर्व-देश और सर्व-कालमें अविसंवादीपना नहीं पाया जाता है ।

शंका— जिस देश और जिस कालमें चक्षुके अविसंवाद उपलब्ध होता है, उस देश और उस कालमें उस चक्षुमें प्रमाणता रहती है ?

समाधान— यदि किसी देश और किसी कालमें अविसंवादी चक्षुके प्रमाणता मानते हो तो प्रत्यक्ष और परोक्ष विषयमें सर्व-देश और सर्व-कालमें अविसंवादी ऐसे विवक्षित वचनको प्रमाण क्यों नहीं मानते हो ।

....

१. मु. मसिद्धं तस्य क्वचित् ।

२. मु. तस्य ।

३. तत्त्वप्रतिपादनमविसंवादः अ. श. ७५.

सर्वदाविसंवादिनो वचनस्य प्रामाण्यं किमिति नेष्यते ? अदृष्टविषये क्वचिद्विसंवादो- पलम्भान्न तस्य सर्वत्र सर्वदा प्रामाण्यमिति चेन्न, तत्र वचनस्यापराधाभावात्तत्स्वरूपान- वगन्तुः पुरुषस्य तत्रापराधोपलम्भात् । न ह्यन्यदोषैरन्यः परिगृह्यते, अव्यवस्थापत्तेः। वक्तुरेव तत्रापराधो न वचनस्येति कथमवगम्यत इति चेन्न, तस्यान्यस्य वा तत एव प्रवृत्तस्य पश्चादर्थप्राप्त्युपलम्भात् । अप्रतिपन्नविसंवादाविसंवादस्यास्य वचनस्य प्रामाण्यं कथमवसीयत इति चेन्नैष दोषः, आर्षावयवेन प्रतिपन्नाविसंवादेन सहास्यार्षा-[1] वयवस्यावयविद्वारेणापन्नैकत्वतस्तत्सत्यत्वावगतेः । इक्षुदण्डवन्नानारसः किन्न

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका— परोक्ष-विषयमें कहींपर विसंवाद पाया जाता है, इसलिये सर्व-देश और सर्व-कालमें वचनमें प्रमाणता नहीं आ सकती है ?

समाधान— यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, उसमें वचनका अपराध नहीं है, किंतु परोक्ष-विषयके स्वरूपको नहीं समझनेवाले पुरुषका ही उसमें अपराध पाया जाता है । कुछ दूसरेके दोषसे दूसरा तो पकड़ा नहीं जा सकता है, अन्यथा अव्यवस्था प्राप्त हो जायगी ।

शंका— परोक्ष-विषयमें जो विसंवाद उत्पन्न होता है, इसमें वक्ताका ही दोष है वचनका नहीं, यह कैसे जाना ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उसी वचनसे पुनः अर्थके निर्णयमें प्रवृत्ति करनेवाले उसी अथवा किसी दूसरे पुरुषके दूसरी बार अर्थकी प्राप्ति बराबर देखी जाती है । इससे ज्ञात होता है कि जहां पर तत्त्व-निर्णयमें विसंवाद उत्पन्न होता है वहां पर वक्ताका ही दोष है, वचनका नहीं ।

शंका— जिस वचनकी विसंवादिता या अविसंवादिताका निर्णय नहीं हुआ उसकी प्रमाणताका निश्चय कैसे किया जाय ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं हैं, क्योंकि, जिसकी अविसंवादिताका निश्चय हो गया है ऐसे इस आर्षके अवयवरूप वचनके साथ विवक्षित आर्षके अवयवरूप वचनके भी अवयवीकी अपेक्षा एकपना बन जाता है, इसलिये विवक्षित अवयवरूप वचनकी सत्यताका ज्ञान हो जाता है ।

विशेषार्थ— जितने भी आर्ष-वचन हैं वे सब आर्षके अवयव हैं, इसलिये आर्षमें प्रमाणता होनेसे उसके अवयवरूप सभी वचनोंमें प्रमाणता आ जाती है ।

शंका— जिस प्रकार गन्ना नाना रसवाला होता है, उसके ऊपरके भागमें भिन्न प्रकारका रस पाया जाता है, मध्यके भागमें भिन्न प्रकारका और नीचेके भागमें भिन्न प्रकारका रस पाया जाता है, उसी प्रकार अवयवरूप आर्ष-वचनको भी अनेक प्रकारका मान

१. मु. सहार्षावयवस्था-।

स्यादिति चेन्न, वाच्यवाचकभेदेन तस्य नानात्वाभ्युपगमात् । तद्वत्सत्यासत्यकृत-भेदोऽपि तस्यास्त्विति चेन्न, अवयविद्वारेणैकस्य प्रवाहरूपेणापौरुषेयस्यागमस्यासत्यत्व-विरोधात् । अथवा न तावदयं वेदः स्वस्यार्थं स्वयमाचष्टे, सर्वेषामपि तदवगम-प्रसङ्गात्[1] । न चैवं,[2] तथानुपलम्भात् ।

अथान्ये व्याचक्षते, तेषां तदर्थविषयपरिज्ञानमस्ति वा नेति विकल्पद्वयावतारः? न द्वितीयविकल्पः तदर्थावगमरहितस्य व्याख्यातृत्वविरोधात् । अविरोधे वा सर्वः सर्वस्य व्याख्यातास्तु, अज्ञत्वं प्रत्यविशेषात् । प्रथमविकल्पेऽसौ सर्वज्ञो वा स्यादसर्वज्ञो वा[3] ? न द्वितीयविकल्पः, ज्ञानविज्ञानविरहादप्राप्तप्रामाण्यस्य व्याख्यातुर्वचनस्य

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

लेना चाहिये

समाधान— नहीं, क्योंकि, वाच्य-वाचकके भेदसे उसमें नानापना माना ही गया है ।

शंका— जिस प्रकार वाच्य-वाचकके भेदसे आर्ष-वचनोंमें भेद माना जाता है, उसी प्रकार वचनोंमें सत्य-असत्यकृत भी भेद मान लेना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अवयवीरूपसे प्रवाह-क्रमसे आये हुए अपौरुषेय एक आगममें असत्यपना स्वीकार करनेमें विरोध आता है ।

अथवा, यह वेद (आगम) अपने वाच्यभूत अर्थको स्वयं नहीं कहता है । यदि वह स्वयं कहने लगे तो सभीको उसका ज्ञान हो जानेका प्रसंग आ जायगा, इसलिये भी वक्ताके दोषसे वचनमें दोष मानना चाहिये । परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, इस प्रकारकी उपलब्धि नहीं होती है ।

कोई लोग ऐसा व्याख्यान करते हैं कि वक्ताओंको वेदके वाच्यभूत विषयका परि-ज्ञान है या नहीं ? इस तरह दो विकल्प उत्पन्न होते हैं । इनमेंसे दूसरा विकल्प तो बन नहीं सकता है, क्योंकि जो वेदके अर्थ-ज्ञानसे रहित है, उसको वेदका व्याख्याता माननेमें विरोध आता है । यदि कहो कि इसमें कोई विरोध नहीं है, तो सबको संपूर्ण शास्त्रोंका व्याख्याता हो जाना चाहिये, क्योंकि, अज्ञपना सभीके बराबर है । यदि प्रथम विकल्प लेते हो कि वक्ताको वेदके अर्थका ज्ञान है तो वह वक्ता सर्वज्ञ है कि असर्वज्ञ ? इनमेंसे दूसरा विकल्प तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि, ज्ञान-विज्ञानसे रहित होनेके कारण जिसने स्वयं प्रमाणताको प्राप्त नहीं किया ऐसे व्याख्याताके वचन प्रमाणरूप नहीं हो सकते हैं ।

---

१ अकृत्रिमाम्नायो न स्वयं स्वार्थं प्रकाशयितुमीशस्तदर्थविप्रतिपत्त्यभावानुषंगादिति तद्व्याख्याता-नुमन्तव्यः । स च यदि सर्वज्ञो वीतरागश्च स्यात्तदाम्नायस्य तत्परतंत्रतया प्रवृत्तेः किमकृत्रिमत्वकारणं पोष्यते । तद्व्याख्यातुरसर्वज्ञत्वे रागित्वे वाश्रीयमाणे तन्मूलस्य सूत्रस्य नैव प्रमाणता युक्ता तस्य विप्रलंभनात् । त. श्लो. वा. पृ. ७.

२ मु. प्रसङ्गात् । अस्तु चेन्न चैवं ।

३ स पुरुषोऽसर्वज्ञो रागादिमांश्च यदि तदा तद्व्याख्यानादर्थनिश्चयानुपपत्तिरयथार्थाभिधानशंकनात् । सर्वज्ञो वीतरागश्च न सोऽत्रेदानीमिष्टो यतस्तदर्थनिश्चयः स्यादिति । त. श्लो. वा. पृ. ८.

प्रामाण्याभावात् । भवतु तस्य तद्वचनस्य चाप्रामाण्यम्, नागमस्य, पुरुषव्यापार-निरपेक्षत्वादिति चेन्न, व्याख्यातारमन्तरेण स्वार्थाप्रतिपादकस्य तस्य व्याख्यात्रधीन-वाच्यवाचकभावस्य पुरुषव्यापारनिरपेक्षत्वविरोधात् । तस्मादागमः पुरुषेच्छातोऽर्थ-प्रतिपादक इति प्रतिपत्तव्यम् । तथा च 'वक्तृप्रामाण्याद्वचनप्रामाण्यम्' इति न्यायादप्रमाणपुरुषव्याख्यातार्थ आगमोऽप्रमाणतां कथं नास्कन्देत् ? तस्माद् विगतदोषावरणत्वात्[1] प्राप्ताशेषवस्तुविषयबोधस्तस्य व्याख्यातेति प्रतिपत्तव्यम्, अन्यथास्यापौरुषेयस्यापि[2] पौरुषेयवदप्रामाण्यप्रसङ्गात् । असर्वज्ञानां व्याख्यातृत्वाभावे आर्षसन्ततेर्विच्छेदः स्यात्, अर्थशून्याया[3] वचनपद्धतेरार्षत्वाभावादिति चेन्न, इष्टत्वात् । नाप्यार्षसन्ततेर्विच्छेदः, विगतदोषावरणार्हद्व्याख्यातार्थस्यार्षस्य चतुरमलबुद्ध्यतिशयोपेतनिर्दोषगणभृदवधारितस्य ज्ञानविज्ञानसम्पन्नगुरुपर्वक्रमेणायातस्याविनष्ट-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका— असर्वज्ञ वक्ता और उसके वचनकी अप्रमाणता भले ही मान ली जाय, परंतु आगममें अप्रमाणता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि, आगम पुरुषके व्यापारकी अपेक्षासे रहित है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, व्याख्याताके विना वेद स्वयं अपने विषयका प्रतिपादक नहीं है, इसलिये उसका वाच्य-वाचकभाव व्याख्याताके आधीन है। अतएव वेदमें पुरुष व्यापारकी निरपेक्षता नहीं बन सकती है । इसलिये आगम पुरुषकी इच्छासे अर्थका प्रतिपादक है, ऐसा समझना चाहिये । ऐसी अवस्थामें 'वक्ताकी प्रमाणतासे वचनमें प्रमाणता आती है' इस न्यायके अनुसार अप्रमाणभूत पुरुषके द्वारा व्याख्यान किया गया आगम अप्रमाणताको कैसे प्राप्त नहीं होगा, अर्थात् अवश्य प्राप्त होगा ? इसलिये जिसने, संपूर्ण दोष और आवरणोंको दूर कर देनेसे संपूर्ण वस्तु-विषयक ज्ञानको प्राप्त कर लिया है, वही आगमका व्याख्याता हो सकता है, ऐसा समझना चाहिये । अन्यथा इस अपौरुषेय आगमको भी पौरुषेय आगमके समान अप्रमाणताका प्रसंग आ जायगा ।

शंका— असर्वज्ञोंको व्याख्याता नहीं मानने पर आर्षसन्ततिका विच्छेद हो जायगा, क्योंकि अर्थशून्य वचन पद्धतिमें आर्षपना नहीं बन सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वैसा तो हम मानते ही है। अर्थात् अर्थशून्य वचन-रचनाको हमारे यहां आगमरूपसे प्रमाण नहीं माना है ।

दूसरे हमारे यहां आर्ष-परंपराका विच्छेद भी नहीं है, क्योंकि, जिसका दोष और आवरणसे रहित अरहंत परमेष्टीने अर्थरूपसे व्याख्यान किया है, जिसको चार निर्मल बुद्धिरूप अतिशयसे युक्त और निर्दोष गणधरदेवने धारण किया है, जो ज्ञान-विज्ञान संपन्न गुरुपरंपरासे चला आ रहा है, जिसका पहलेका वाच्य-वाचकभाव अभीतक नष्ट नहीं हुआ है और जो दोषावरणसे रहित तथा निष्प्रतिपक्ष सत्य-स्वभाववाले पुरुषके द्वारा व्याख्यात होनेसे श्रद्धाके

१ मु. विगताशेषदोषा- २ मु. पौरुषेयत्वस्यापि । ३ मु. विच्छेदस्यार्थशून्याया ।

प्राक्तनवाच्यवाचकभावस्य विगतदोषावरणनिष्प्रतिपक्षसत्यस्वभावपुरुषव्याख्यातत्वेन श्रद्धाप्यमानस्योपलम्भात् । अप्रमाणमिदानीन्तन आगमः, आरातीयपुरुषव्याख्यातार्थत्वादिति चेन्न, ऐदंयुगीनज्ञानविज्ञानसम्पन्नतया प्राप्तप्रामाण्यैराचार्यैर्व्याख्यातार्थत्वात् । कथं छद्मस्थानां सत्यवादित्वमिति चेन्न, यथाश्रुतव्याख्यातॄणां तदविरोधात् । प्रमाणीभूतगुरुपर्वक्रमेणायातोऽयमर्थ इति कथमवसीयत इति चेन्न, दृष्टविषये सर्वत्राविसंवादात्, अदृष्टविषयेऽप्यविसंवादिनागमभागेनैकत्वे[1] सति सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्[2], ऐदंयुगीनज्ञानविज्ञानसम्पन्नभूयसामाचार्याणामुपदेशाद्वा

योग्य है ऐसे आगमकी आज भी उपलब्धि होती है ।

शंका— आधुनिक आगम अप्रमाण है, क्योंकि, अर्वाचीन पुरुषोंने इसके अर्थका व्याख्यान किया है ?

समाधान— यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, ज्ञान-विज्ञानसे सहित होनेके कारण प्रमाणताको प्राप्त इस युगके आचार्योंके द्वारा इसके अर्थका व्याख्यान किया गया है, इसलिये आधुनिक आगम भी प्रमाण है ।

शंका— छद्मस्थोंके सत्यवादीपना कैसे माना जा सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, श्रुतके अनुसार व्याख्यान करनेवाले आचार्योंके प्रमाणता माननेमें कोई विरोध नहीं है ।

शंका— आगमका यह अर्थ प्रामाणिक गुरुपरंपराके क्रमसे आया हुआ है, यह कैसे निश्चय किया जाय ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, प्रत्यक्षभूत विषयमें तो सब जगह विसंवाद उत्पन्न नहीं होनेसे निश्चय किया जा सकता है । और परोक्ष विषयमें भी, जिसमें परोक्ष-विषयका वर्णन किया गया है वह भाग अविसंवादी आगमके दूसरे भागोंके साथ आगमकी अपेक्षा एकताको प्राप्त होने पर, अनुमानादि प्रमाणोंके द्वारा बाधक प्रमाणोंका अभाव सुनिश्चित होनेसे उसका निश्चय किया जा सकता है अथवा, ज्ञान विज्ञानसे युक्त इस युगके अनेक आचार्योंके उपदेशसे उसकी प्रमाणता जानना चाहिये । और बहुतसे साधु इस विषयमे विसंवाद नहीं करते हैं, क्योंकि, इस तरहका विसंवाद कहीं पर भी नहीं पाया जाता है । अतएव आगमके अर्थके व्याख्याता प्रामाणिक पुरुष हैं इस बातके निश्चित हो जानेसे आर्ष-वचनकी प्रमाणता भी सिद्ध हो जाती है । और आर्ष-वचनकी प्रमाणताके सिद्ध हो जानेसे मनके अभावमें भी केवलज्ञान

---

१ मु. भावेनैकत्वे ।

२ यथा बाधुनात्र चास्मदादीनां प्रत्यक्षादिति न तद्बाधकं तथान्यत्रान्यदान्येषां च विशेषाभावादिति सिद्धं सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वमस्य तथ्यतां साधयति । त. श्लो. वा. पृ. ७.

तदवगतेः । न च भूयांसः साधवो विसंवदन्ते, तथान्यत्रानुपलम्भात् । प्रमाणपुरुषव्याख्यातार्थत्वात् स्थितं वचनस्य प्रामाण्यम् । ततो मनसोऽभावेऽप्यस्ति केवलज्ञानमिति सिद्धम् । अथवा न केवलज्ञानं मनसः समुत्पद्यमानमुपलब्धं श्रुतं वा, येनैषारेकोत्पद्येत । क्षायोपशमिको हि बोधः क्वचिन्मनस उत्पद्यते । मनसोऽभावाद्भवतु तस्यैवाभावः, न केवलस्य, तस्मात्तस्योत्पत्तेरभावात् । सयोगस्य केवलिनः केवलं मनसः समुत्पद्यमानमुपलभ्यत[1] इति चेन्न, स्वावरणक्षयादुत्पन्नस्याक्रमस्य पुनरुत्पत्तिविरोधात् । ज्ञानत्वान्मत्यादिज्ञानवत्कारकमपेक्षते केवलमिति चेन्न, क्षायिकक्षायोपशमिकयोः साधर्म्याभावात् । प्रतिक्षणं विवर्तमानानर्थानपरिणामि केवलं कथं परिछिनत्तीति चेन्न, ज्ञेयसमपरिवर्तिनः[2] केवलस्य तदविरोधात् ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

होता है यह बात भी सिद्ध हो जाती है ।

अथवा, केवलज्ञान मनसे उत्पन्न होता हुआ न तो किसीने उपलब्ध किया और न किसीने सुना ही, जिससे कि यह शंका उत्पन्न हो सके । क्षायोपशमिक ज्ञान अवश्य ही कहीं पर (संज्ञी पंचेन्द्रियोंमें) मनसे उत्पन्न होता है । इसलिये अयोगकेवलीके मनका अभाव होनेसे क्षायोपशमिक ज्ञानका ही अभाव सिद्ध होगा, न कि केवलज्ञानका, क्योंकि, अयोगकेवलियोंको मनसे केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है ।

शंका—— सयोगकेवलीके तो केवलज्ञान मनसे उत्पन्न होता हुआ उपलब्ध होता है ?

समाधान—— यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, जो ज्ञान ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे उत्पन्न है और जो अक्रमवर्ती है, उसकी पुनः उत्पत्ति मानना विरुद्ध है ।

शंका—— जिस प्रकार मति आदि ज्ञान, स्वयं ज्ञान होनेसे अपनी उत्पत्तिमें कारककी अपेक्षा करते हैं, उसी प्रकार केवलज्ञान भी ज्ञान है, अतएव उसे भी अपनी उत्पत्तिमें कारककी अपेक्षा करनी चाहिये ?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, क्षायिक और क्षायोपशमिक ज्ञानमें साधर्म्य नहीं पाया जाता है ।

शंका—— अपरिवर्तनशील केवलज्ञान प्रत्येक समयमें परिवर्तनशील पदार्थोंको कैसे जानता है ?

समाधान—— ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, ज्ञेय पदार्थोंके समान परिवर्तन करनेवाले केवलज्ञानके उन पदार्थोंके जाननेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—— ज्ञेयकी परतन्त्रतासे परिवर्तन करनेवाले केवलज्ञानकी फिरसे उत्पत्ति क्यों नहीं मानी जाय ?

समाधान—— नही क्योंकि, केवल उपयोग-सामान्यकी अपेक्षा केवलज्ञानकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती है । विशेषकी अपेक्षा उसकी उत्पत्ति होते हुए भी वह (उपयोग) इन्द्रिय,

१ मु. समुपलभ्यत .   २ मु. विपरिवर्तिनः ।

ज्ञेयपरतन्त्रतया विपरिवर्तमानस्य केवलस्य कथं पुनर्नोत्पत्तिरिति[1] चेन्न, केवलोपयोगसामान्यापेक्षया तस्योत्पत्तेरभावात् । विशेषापेक्षया च नेन्द्रियालोकमनोभ्यस्तदुत्पत्तिर्विगतावरणस्य तद्विरोधात् । केवलमसहायत्वान्न तत्सहायमपेक्षते, स्वरूपहानिप्रसङ्गात्[2] । प्रमेयमपि मैक्षिष्ट, असहायत्वादिति[3] चेन्न, तस्य तत्स्वभावत्वात् । न हि स्वभावाः परपर्यनुयोगार्हाः, अव्यवस्थापत्तेरिति । पञ्चसु गुणेषु कोऽत्र गुण इति चेत् क्षीणाशेषघातिकर्मत्वान्निरस्यमानाघातिकर्मत्वाच्च क्षायिको गुणः । उक्तं च—

सेलेसिं[4] संपत्तो णिरुद्ध-णिस्सेस-आसवो जीवो ।
कम्म-रय-विप्पमुक्को गय-जोगो केवली होई[5] ॥ १२६ ॥

मार्गदर्शक- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
[illegible] होता है, क्योंकि, जिसके ज्ञानावरणादि कर्म नष्ट हो गये हैं ऐसे केवलज्ञानकी इन्द्रियादिकसे उत्पत्ति होनेमें विरोध आता है ।

दूसरी बात यह है कि केवलज्ञान असहाय है, इसलिये वह इन्द्रियादिकोंकी सहायताकी अपेक्षा नहीं करता है, अन्यथा स्वरूपकी हानिका प्रसंग आ जायगा ।

शंका— यदि केवलज्ञान असहाय है तो वह प्रमेयको भी मत जाने ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, पदार्थोंको जानना उसका स्वभाव है । और वस्तुके स्वभाव दूसरोंके प्रश्नोंके योग्य नहीं हुआ करते हैं । यदि स्वभावमें भी प्रश्न होने लगें तो फिर वस्तुओंकी व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी ।

शंका— पांच प्रकारके भावोंमेंसे इस गुणस्थानमें कौनसा भाव है ?

समाधान— संपूर्ण घातिया कर्मोंके क्षीण हो जानेसे और थोड़े ही समयमें अघातिया कर्मोंके नाशको प्राप्त होनेवाले होनेसे इस गुणस्थानमें क्षायिक भाव है । कहा भी है—

जिन्होंने अठारह हजार शीलके स्वामीपनेको प्राप्त कर लिया है, अथवा जो मेरुके समान निष्कम्प अवस्थाको प्राप्त हो चुके हैं, जिन्होंने संपूर्ण आस्रवका निरोध कर दिया है, जो नूतन बँधनेवाले कर्म-रजसे रहित हैं, और जो मन, वचन तथा काय योगसे रहित होते हुए केवलज्ञानसे विभूषित हैं उन्हें अयोगकेवली परमात्मा कहते हैं ॥ १२६ ॥

---

१ मु. पुनर्नैवोत्पत्तिरिति । २ विशेषजिज्ञासुभिः अष्टसहस्री पृ. २३६-२३७. तथा प्रमेयकमलमार्तण्डः पृ. ११२-११६. द्रष्टव्यः । ३ मु. मैवमैक्षिष्टासहायत्वादिति ।

४ शिलाभिर्निर्वृत्तः शिलानां वाऽयमिति शैलस्तेषामीशः शैलेशो मेरुः शैलेशस्येयं, स्थिरतासाम्यात् परमशुक्लध्याने वर्तमानः शैलेशीमानभिधीयते, अभेदोपचारात् स एव शैलेशी, मेरुरिवाप्रकम्पो यस्यामवस्थायां सा शैलेश्यवस्था । अथवा पूर्वमस्थिरतयाऽशैलेशो भूत्वा पश्चात्स्थिरतयैव यस्यामवस्थायां शैलेशानुकारी भवति स सा । अथवा सेलेसी होई × × सोऽतिथिरताए सेलोव्व इसीति स ऋषिः स्थिरतया शैल इव भवति । अथवा सेलेसी भण्णइ सेलेसी होइ मागधदेशीभाषया से-सो अलेसीभवति तस्यामवस्थायां, अकारलोपात् । अथवा सेलेसो निश्चयतः शीलं समाधानं, स च सर्वसंवरस्तस्येशः, तस्य शीलेशस्य याऽवस्था सा शैलेशी अवस्थोच्यते । वि. भा. को. वृ. पृ. ८६६.

५ प्रा. पं. १,३० । गो. जी. ६५. तत्र 'सीलेसिं' इति पाठः । शीलानां अष्टादशसहस्रसंख्यानां ऐश्यं ईश्वरत्वं स्वामित्वं संप्राप्तः । मं. प्र. टी.

मोक्षस्य सोपानीभूतानि चतुर्दश गुणस्थानानि प्रतिपाद्य संसारातीतगुणप्रतिपादनार्थमाह—

सिद्धा चेदि ॥ २३ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सिद्धाः निष्ठिताः निष्पन्नाः कृतकृत्याः सिद्धसाध्या इति यावत् । निराकृताशेषकर्माणो बाह्यार्थनिरपेक्षानन्तानुपमसहजाप्रतिपक्षसुखाः निरुपलेपाः अविचलितस्वरूपाः सकलावगुणातीताः निःशेषगुणनिधानाः चरमदेहात्किञ्चिन्न्यूनस्वदेहाः कोशविनिर्गतसायकोपमाः लोकशिखरनिवासिनः सिद्धाः । उक्तं च––

> अट्ठविह-कम्म-विजडा[1] सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा ।
> अट्ठ-गुणा किदकिच्चा लोयग्ग-णिवासिणो सिद्धा[2] ॥ १२७ ॥

मोक्षके सोपानीभूत चौदह गुणस्थानोंका प्रतिपादन करके अब संसारसे अतीत गुणके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे सिद्ध जीव हैं ॥ २३ ॥

सिद्ध, निष्ठित, निष्पन्न, कृतकृत्य और सिद्धसाध्य ये एकार्थवाची नाम हैं । जिन्होंने समस्त कर्मोंका निराकरण कर दिया है, जिन्होंने बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा रहित, अनन्त, अनुपम, स्वाभाविक और प्रतिपक्षरहित सुखको प्राप्त कर लिया है, जो निर्लेप हैं, अचल स्वरूपको प्राप्त हैं, संपूर्ण अवगुणोंसे रहित हैं, सर्व गुणोंके निधान हैं, जिनका स्वदेह अर्थात् आत्माका आकार चरम शरीरसे कुछ न्यून है, जो कोशसे निकले हुए बाणके समान विनिःसंग हैं और लोकके अग्रभागमें निवास करते है उन्हें सिद्ध कहते हैं । कहा भी है––

जो ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे सर्वथा मुक्त हैं, सब प्रकार दुःखोंसे मुक्त होनेसे शांतिसुखमय है । निरंजन हैं, नित्य हैं, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्मत्व और अगुरुलघु इन आठ गुणोंसे युक्त है, कृतकृत्य हैं और लोकके अग्रभागमें निवास करते हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं ॥ १२७ ॥

'अत्थि मिच्छाइट्ठि' इस सूत्रसे लेकर 'सिध्दा चेदि' इस सूत्र पर्यन्त सब जगह अस्ति' पदका संबन्ध कर लेना चाहिये । 'सिध्दा चेदि' इस सूत्रमें आया हुआ 'च' शब्द

---

१ मु. विजुदा ।

२ प्रा. पं. १,३१ । गो. जी. ६८ 'अट्ठविहकम्मविजुदा' अनेन संसारिजीवस्य मुक्तिर्नास्तीति याज्ञिकमतं, सर्वदा कर्ममलैरस्पृष्टत्वेन सदा मुक्त एव सदैवेश्वर इति सदाशिवमतं च अपास्तं । 'सीदीभूदा' अनेन मुक्तौ आत्मनः सुखाभावं वदन् सांख्यमतमपाकृतं । 'णिरंजणा' अनेन मुक्तात्मनः पुनःकर्माजनसंसर्गेण संसारोऽस्तीति वदन् मस्करीदर्शनं प्रत्याख्यातं । 'णिच्चा' अनेन प्रतिक्षणं विनश्वरचित्पर्याया एव एकसंतानवर्तिनः परमार्थतो नित्यद्रव्यं नेति वदंतीति बौद्धप्रत्यवस्था प्रतिव्यूढा । 'अट्ठगुणा' अनेन ज्ञानादिगुणानामत्यन्तोच्छित्तिरात्मनो मुक्तिरिति वदन्नैयायिकवैशेषिकाभिप्रायः प्रत्युक्तः । 'किदकिच्चा' अनेन ईश्वरः सदा मुक्तोऽपि जगन्निर्मापणे कृतादरत्वेनाकृतकृत्य इति वददीश्वरसृष्टिवादाकृतम् निराकृतम् । 'लोयग्गणिवासिणो' अनेन आत्मनः ऊर्ध्वगमनस्वाभाव्यात् मुक्तावस्थायां क्वचिदपि विश्रामाभावात् उपर्युपरि गमनमिति वदन् मांडलिकमतं प्रत्यस्तं । जी. प्र. टी.

सव्वत्थ अत्थि त्ति संबंधो कायव्वो। 'च' सद्दो समुच्चयट्ठो। 'इदि' सद्दो एत्तियाणि चेव गुणट्ठाणाणि त्ति गुणट्ठाणाणं समत्ति-वाचओ।

चोद्दसण्हं गुणट्ठाणाणं ओघ-परूवणं काऊण आदेस-परूवणट्ठं सुत्तमाह—

आदेसेण गदियाणुवादेण अत्थि णिरयगदी तिरिक्खगदी मणुस्सगदी देवगदी सिद्धिगदी[1] चेदि ॥ २४ ॥

मार्गदर्शक -- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आदेशग्रहणं सामर्थ्यलभ्यमिति न वाच्यमिति चेन्न स्पष्टीकरणार्थत्वात्। गतिरुक्तलक्षणा, तस्याः वदनं वादः। प्रसिद्धस्याचार्यपरम्परागतस्यार्थस्य अनु पश्चाद् वादोऽनुवादः। गतेरनुवादो गत्यनुवादः, तेन गत्यनुवादेन। [2]हिंसादिष्वसदनुष्ठानेषु व्यापृताः निरतास्तेषां गतिर्निरतगतिः। अथवा नरान् प्राणिनः कायति यातयति[3] खलीकरोति इति नरकः कर्म, तस्य नरकस्यापत्यं[4] नारकास्तेषां गतिर्नारकगतिः।

समुच्चयरूप अर्थका वाचक है और 'इति' शब्द, गुणस्थान इतने ही होते हैं इससे कम या अधिक नहीं, इस प्रकार गुणस्थानोंकी समाप्तिका वाचक है।

चौदह गुणस्थानोंका सामान्य प्ररूपण करके अब विशेष प्ररूपणके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

आदेश-प्ररूपणाकी अपेक्षा गत्यनुवादसे नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति और सिद्धिगति है ॥ २४ ॥

शंका— आदेश पदका ग्रहण सामर्थ्य-लभ्य है, इसलिये इस सूत्रमें उसको ग्रहण नहीं करना चाहिये?

समाधान— नहीं, क्योंकि, स्पष्टीकरण करनेके लिये आदेश पदका सूत्रमें ग्रहण किया है।

गतिका लक्षण पहले कह आये हैं। उसके कथन करनेको वाद कहते हैं। आचार्य-परंपरासे आये हुए प्रसिद्ध अर्थका तदनुसार कथन करना अनुवाद है। इस तरह गतिका आचार्य-परंपराके अनुसार कथन करना गत्यनुवाद है, उससे अर्थात् गत्यनुवादसे नरकगति आदि गतियां होती हैं। जो हिंसादिक असमीचीन कार्योंमें व्यापृत हैं उन्हें निरत कहते हैं, और उनकी गतिको निरतगति कहते हैं। अथवा, जो नर अर्थात् प्राणियोंको काता है अर्थात् यातना देता है, पीसता है उसे नरक कहते हैं। नरक यह एक कर्म है। इससे जिनकी उत्पत्ति होती है उनको नारक कहते हैं, और उनकी गतिको नारकगति कहते हैं। अथवा, जिस गतिका उदय संपूर्ण अशुभ कर्मोंके उदयका सहकारी-कारण है उसे नरकगति कहते हैं। अथवा, जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमें तथा परस्परमें रत नहीं हैं, अर्थात् प्रीति नहीं रखते

---

१ मु. सिद्धगदी।

२ अग्रेतनसन्दर्भेण गो. जीवकाण्डस्य गा. १४७ तमस्य जी. प्र. टीका प्रायेण समाना।

३ मु. पातयति। ४ मु. नरकस्यापत्यानि।

अथवा यस्या उदयः सकलाशुभकर्मणामुदयस्य सहकारिकारणं भवति सा नरकगतिः। अथवा द्रव्यक्षेत्रकालभावेष्वन्योन्येषु[1] च विरताः नरताः, तेषां गतिर्नरतगतिः[2] उक्तं च--

ण रमंति जदो णिच्चं दव्वे खेत्ते य काल-भावे य ।
अण्णोण्णेहि य जम्हा तम्हा ते णारया भणिया ॥ १२८ ॥

सकलतिर्यक्पर्यायोत्पत्तिनिमित्ता तिर्यग्गतिः । अथवा तिर्यग्गतिकर्मोदयापादिततिर्यक्पर्यायकलापस्तिर्यग्गतिः । अथवा तिरो वक्रं कुटिलमित्यर्थः, तदञ्चन्ति व्रजन्तीति तिर्यञ्चः । तिरश्चां गतिः तिर्यग्गतिः उक्तं च---

तिरियंति कुडिल-भावं सुवियड-सण्णा णिगिट्ठमण्णाणा ।
अच्चंत-पाव-बहुला तम्हा तेरिच्छया णाम[4] ॥ १२९ ॥

अशेषमनुष्यपर्यायनिष्पादिका मनुष्यगतिः । अथवा मनुष्यगतिकर्मोदयापादितमनुष्यपर्यायकलापः कार्ये कारणोपचारान्मनुष्यगतिः । अथवा मनसा निपुणाः मनसा

हैं उन्हें नरत कहते हैं, और उनकी गतिको नरतगति कहते हैं । कहा भी है--

यतः जिस कारणसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमें जो स्वयं तथा परस्परमें कभी भी रमते नहीं, इसलिये उनको नारत कहते हैं ॥ १२८ ॥

समस्त जातिके तिर्यंचोंमें उत्पत्तिका जो कारण है उसे तिर्यग्गति कहते हैं । अथवा तिर्यग्गति कर्मके उदयसे प्राप्त हुए तिर्यंच-पर्यायोंके समूहको तिर्यग्गति कहते हैं । अथवा, तिरस् वक्र और कुटिल ये एकार्थवाची नाम हैं, इसलिये यह अर्थ हुआ कि जो कुटिलभावको प्राप्त होते हैं उन्हें तिर्यंच कहते हैं, और उनकी गतिको तिर्यग्गति कहते हैं । कहा भी है---

जो मन, वचन और कायकी कुटिलताको प्राप्त हैं, जिनकी आहारादि संज्ञाएं सुव्यक्त हैं, जो निकृष्ट अज्ञानी हैं और जिनके अत्यधिक पापकी बहुलता पाई जावे उनको तिर्यंच कहते हैं ॥ १२९ ॥

जो मनुष्यकी संपूर्ण पर्यायोंमें उत्पन्न कराती है उसे मनुष्यगति कहते हैं । अथवा, मनुष्यगति नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुए मनुष्य-पर्यायोंके समूहको कार्यमें कारणके उपचारसे मनुष्यगति कहते हैं अथवा, जो मनसे निपुण हैं, या मनसे उत्कट अर्थात् सूक्ष्म-विचार आदि

---

१ नरकगतिसम्बन्ध्यन्नपानादिद्रव्ये तद्भूतलरूपक्षेत्रे समयादिस्वायुरवसानकाले चित्पर्यायरूपभावे । गो. जी., जी. प्र., टी. १४७

२ अथवा निर्गतोऽयः पुण्यं एभ्यस्ते निरयाः तेषां गतिः निरयगतिः । गो. जी., जी. प्र., टी. १४७.

३ प्रा. पं. १, ६० गो. जी. १४७.

४ प्रा. पं. १, ६१ । गो. जी. १४८. यस्मात्कारणात् ये जीवाः सुविवृतसंज्ञाः अगूढाहारादिप्रकट-संज्ञायुताः, प्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धयादिभिरल्पीयस्त्वान्निकृष्टाः हेयोपादेयज्ञानादिभिर्विहीनत्वादज्ञानाः, नित्यनिगोदविवक्षया अत्यन्तपापबहुलाः तस्मात् कारणात्ते जीवाः तिरोभावं कुटिलभावं मायापरिणामं अंचंति गच्छंति इति तिर्यंचो भणिता भवन्ति । जी. प्र. टी.

उत्कटा इति वा मनुष्याः, तेषां गतिः मनुष्यगतिः। उक्तं च—

मण्णंति जदो णिच्चं मणेण णिउणा मणुक्कडा जम्हा।
मणु-उब्भवा य सव्वे तम्हा ते माणुसा भणिया[1] ॥ १३० ॥

[2]अणिमाद्यष्टगुणावष्टम्भबलेन दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः। देवानां गतिर्देवगतिः। अथवा देवगतिनामकर्मोदयोऽणिमादिदेवाभिधानप्रत्ययव्यवहारनिबन्धनपर्यायोत्पादको देवगतिः। देवगतिनामकर्मोदयजनितपर्यायो वा देवगतिः कार्ये कारणोपचारात्। उक्तं च—

दिव्वंति जदो णिच्चं गुणेहि अट्ठहि य दिव्व-भावेहि[3]।
भासंत-दिव्व-काया तम्हा ते वण्णिया देवा[4] ॥ १३१ ॥

सिद्धिः स्वरूपोपलब्धिः सकलगुणैः स्वरूपनिष्ठा सा एव गतिः सिद्धिगतिः।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सातिशय उपयोगसे युक्त हैं उन्हें मनुष्य कहते हैं, और उनकी गतिको मनुष्यगति कहते हैं। कहा भी है—

जिसकारण जो सदा हेय-उपादेय आदिका विचार करते हैं, अथवा, जो मनसे गुण-दोषादिकका विचार करनेमें निपुण हैं, अथवा, जो मनसे उत्कट अर्थात् दूरदर्शन, सूक्ष्म-विचार, चिरकाल धारण आदि रूप उपयोगसे युक्त हैं, अथवा, जो मनुकी सन्तान हैं, इसलिये उन्हें मनुष्य कहते हैं ॥ १३० ॥

जो अणिमा आदि आठ ऋद्धियोंकी प्राप्तिके बलसे क्रीड़ा करते हैं उन्हें देव कहते हैं, और देवोंकी गतिको देवगति कहते हैं। अथवा, जो अणिमादि ऋद्धियोंसे युक्त 'देव' इस प्रकारके शब्द, ज्ञान और व्यवहारमें कारणभूत पर्यायका उत्पादक है ऐसे देवगति नामकर्मके उदयको देवगति कहते हैं। अथवा, देवगति नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई पर्यायको कार्यमें कारणके उपचारसे देवगति कहते हैं। कहा भी है—

क्योंकि वे दिव्यस्वरूप अणिमादि आठ गुणोंके द्वारा निरन्तर क्रीड़ा करते हैं, और उनका शरीर प्रकाशमान तथा दिव्य है, इसलिये उन्हें देव कहते हैं ॥ १३१ ॥

आत्म-स्वरूपकी प्राप्ति अर्थात् अपने संपूर्ण गुणोंसे आत्म-स्वरूपमें स्थित होनेको सिद्धि कहते हैं। ऐसी सिद्धिस्वरूप गतिको सिद्धिगति कहते हैं। कहा भी है—

---

१ प्रा. पं. १,६२। गो. जी. १४९. द्वितीयो यस्माच्छब्दोऽनर्थकः लब्ध्यपर्याप्तकमनुष्याणां पूर्वोक्तमनुष्यलक्षणाभावेऽपि मनुष्यगतिनामायुःकर्मोदयजनितत्वमात्रेणैव मनुष्यत्वमाचार्यस्येष्टं ज्ञापयति। अनर्थकानि वचनानि किंचिदिष्टं ज्ञापयन्त्याचार्यस्य इति न्यायात्। मं. प्र. टी.

२ अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा। प्राप्तिः प्राकाम्यमीशत्वं वशित्वं चाष्ट सिद्धयः ॥

३ मु. दव्व-भावेहि।

४ प्रा. पं. १,६३। गो. जी. १५१. तत्र 'दव्वभावेहि' इति स्थाने 'दिव्वभावेहि' इति पाठः।

उक्तं च—

जाइ-जरा-मरण-भया संजोय-विओय-दुक्ख-सण्णाओ।[1]
रोगादिया य जिस्से ण संति सा होइ[2] सिद्धिगई[3] ॥ १३२ ॥

सर्वत्रास्तीत्यभिसम्बन्धः कर्तव्यः। प्रतिज्ञावाक्यत्वाद्धेतुप्रयोगः कर्तव्यः, प्रतिज्ञामात्रतः साध्यसिद्धयनुपपत्तेरिति चेन्नेदं प्रतिज्ञावाक्यं प्रमाणत्वात्, न हि प्रमाणं प्रमाणान्तरमपेक्षते, अनवस्थापत्तेः। नास्य प्रामाण्यमसिद्धम्, उक्तोत्तरत्वात्।

साम्प्रतं मार्गणैकदेशगतेरस्तित्वमभिधाय तत्र जीवसमासान्वेषणाय सूत्रमाह—

णेरइया चदुसु[4] ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति ॥ २५ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जिसमें जन्म, जरा, मरण, भय, संयोग, वियोग, दुःख, आहारादि संज्ञाएं और रोगादिक नहीं पाये जाते हैं उसे सिद्धिगति कहते हैं ॥ १३२ ॥

सूत्रमें आये हुए अस्ति पदका प्रत्येक गतिके साथ संबन्ध कर लेना चाहिये।

शंका—'नरकगति है, तिर्यंचगति है' इत्यादि प्रतिज्ञा वाक्य होनेसे इनके अस्तित्वकी सिद्धिके लिये हेतुका प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि, केवल प्रतिज्ञा-वाक्यसे साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, 'नरकगति है' इत्यादि वचन प्रतिज्ञावाक्य न होकर प्रमाणवाक्य (आगमप्रमाण) हैं। जो स्वयं प्रमाणस्वरूप होते हैं वे दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा नहीं करते हैं। यदि स्वयं प्रमाण होते हुए भी दूसरे प्रमाणोंकी अपेक्षा की जावे तो अनवस्थादोष आ जाता है। और इन वचनोंकी स्वयं प्रमाणता भी असिद्ध नहीं हैं, क्योंकि, इस विषयमें पहले ही उत्तर दिया जा चुका है कि यह उपदेश सर्वज्ञके मुख-कमलसे प्रगट होकर आचार्य-परंपरासे चला आ रहा है, इसलिये प्रमाण ही है।

मार्गणाके एकदेशरूप गतिका सद्भाव बताकर अब उसमें जीवसमासोंके अन्वेषणके लिये सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि इन चार गुणस्थानोंमें नारकी होते हैं ॥ २५ ॥

१ कर्मवशाज्जीवस्य भवे भवे स्वशरीरपर्यायोत्पत्तिर्जातिः। जातस्य तथाविधशरीरपर्यायस्य वयोहान्या विशरणं जरा। स्वायुःक्षयात्तथाविधशरीरपर्यायप्राणत्यागो मरणं। अनर्थाशंकया अपकारकेभ्यः पलायनेच्छा भयं। क्लेशकारणानिष्टद्रव्यसंगमः संयोगः। सुखकारणेष्टद्रव्यापायो वियोगः। एतेभ्यः समुत्पन्नानि आत्मनो निग्रहरूपाणि दुःखानि। शेषास्तित्रः आहारादिवांछारूपाः संज्ञाः। गो. जी., मं. प्र., टी. १५२

२ प्रा. पं. १, ६४। गो. जी. १५२

३ मु. सिद्धगई।　　४ मु. अ. चउट्ठाणेसु

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नारकग्रहणं मनुष्यादिनिराकरणार्थम् । चतुर्ग्रहणं पञ्चादिसंख्यापोहनार्थम् । अस्तिग्रहणं प्रतिपत्तिगौरवनिरासार्थम् । नारकाश्चतुर्षु स्थानेषु सन्तीत्यस्मात्सामान्यवचनात्संशयो मा जनीति तदुत्पत्तिनिराकरणार्थं मिथ्यादृष्ट्यादिगुणानां नामनिर्देशः । अस्तु मिथ्यादृष्टिगुणे तेषां सत्त्वम्, मिथ्यादृष्टिषु तत्रोत्पत्तिनिमित्तमिथ्यात्वस्य सत्त्वात् । नेतरेषु गुणेषु तेषां सत्त्वम्, तत्रोत्पत्तिनिमित्तस्य मिथ्यात्वस्यासत्त्वादिति चेन्न, आयुषो बन्धमन्तरेण मिथ्यात्वाविरतिकषायाणां[1] तत्रोत्पादनसामर्थ्याभावात् । न च बद्धस्यायुषः सम्यक्त्वान्निरन्वयविनाशः, आर्षविरोधात् । न हि बद्धायुषः सम्यक्त्वं संयममिव न प्रतिपद्यन्ते, सूत्रविरोधात्[2] । सम्यग्दृष्टीनां बद्धायुषां तत्रोत्पत्तिरस्तीति सन्ति तत्रासंयतसम्यग्दृष्टयः, न सासादनगुणवतां तत्रोत्पत्तिः, तद्गुणस्य तत्रोत्पत्त्या सह विरोधात्[3] । तर्हि कथं तद्वतां तत्र सत्त्वमिति चेन्न,

मनुष्यादिके निराकरण करनेके लिये सूत्रमें नारक पदका ग्रहण किया है । पांच आदि संख्याओंके निराकरण करनेके लिये 'चतुर' पदका ग्रहण किया है । जाननेमें कठिनाई न पड़े इसलिये 'अस्ति' पदका ग्रहण किया है । नारकी चार गुणस्थानोंमें होते हैं, इस सामान्य वचनसे संशय न हो जाय कि वे चार गुणस्थान कौन कौनसे हैं, इसलिये इस संशयको दूर करनेके लिये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंका नाम-निर्देश किया है ।

शंका—— मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नारकियोंका सत्त्व रहा आवे, क्योंकि, मिथ्यादृष्टि उन नारकियोंमें उत्पत्तिका निमित्त कारण मिथ्यादर्शन पाया जाता है । किंतु दूसरे गुणस्थानोंमें नारकियोंका सत्त्व नहीं पाया जाना चाहिये, क्योंकि, अन्य गुणस्थानसहित नारकियोंमें उत्पत्तिका निमित्त कारण मिथ्यात्व नहीं माना गया है ?

समाधान—— ऐसा नहीं है, क्योंकि, नरकायुके बन्ध विना मिथ्यादर्शन, अविरति और कषायकी नरकमें उत्पन्न करानेकी सामर्थ्य नहीं है । और पहले बन्धी हुई आयुका पीछेसे उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शनसे निरन्वय नाश भी नहीं होता है, क्योंकि, ऐसा मान लेने पर आर्षसे विरोध आता है । जिन्होंने नरकायुका बन्ध कर लिया है ऐसे जीव जिस प्रकार संयमको प्राप्त नहीं हो सकते हैं उसी प्रकार सम्यक्त्वको प्राप्त नहीं होते हैं, यह बात भी नहीं है, क्योंकि, ऐसा मान लेने पर भी सूत्रसे विरोध होता है ।

शंका—— जिन जीवोंने पहले नरकायुका बन्ध किया और जिन्हें पीछेसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ ऐसे बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टियोंकी नरकमें उत्पत्ति होती है, इसलिये नरकमें असंयतसम्यग्दृष्टि भले ही पाये जावें, परंतु सासादन गुणस्थानवालोंकी (मरकर) नरकमें उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि, सासादन गुणस्थानका नरकमें उत्पत्तिके साथ विरोध है । इसलिये सासादन गुणस्थानवालोंका नरकमें सद्भाव कैसे पाया जा सकता है ?

१. अ. ब. क. मिथ्याविरति.

२. चत्तारि वि खेत्ताइं आउगबंधेण होइ सम्मत्तं । अणुवदमहव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं । गो. क. ३३४.

३. ण सासणो णारयापुण्णे : गो. जी. १२८. णिरयं सासणसम्मो ण गच्छदि त्ति । गो. क. ६२२.

पर्याप्तनरकगत्या सह सापर्याप्तया[1] इव तस्य विरोधाभावात्[2]। किमित्यपर्याप्तया विरोधश्चेत्स्वभावोऽयं, न हि स्वभावाः परपर्यनुयोगार्हाः। तर्ह्यन्यास्वपि गतिष्वपर्याप्तकालेऽस्य सत्त्वं मा भूत्तेन तस्य विरोधादिति चेन्न, नारकापर्याप्तकालेनेव शेषापर्याप्तपर्यायैः सह विरोधासिद्धेः[3]। सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्य पुनः सर्वदा सर्वत्रापर्याप्ताद्धाभिर्विरोधस्तत्र[4] तस्य सत्त्वप्रतिपादकार्षाभावात्। किमित्यागमे तत्र तस्य सत्त्वं नोक्तमिति चेन्न, आगमस्यातर्कगोचरत्वात्। कथं पुनस्तयोस्तत्र सत्त्वमिति चेन्न, परिणामप्रत्ययेन तदुत्पत्तिसिद्धेः। तर्हि सम्यग्दृष्टयोऽपि तथैव सन्तीति चेन्न,

समाधान--- नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार नरकगतिमें अपर्याप्त अवस्थाके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध है, उस प्रकार पर्याप्त-अवस्था सहित नरकगतिके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध नहीं है। अर्थात् नारकियोंके पर्याप्त अवस्थामें दूसरा गुणस्थान उत्पन्न हो सकता है। यदि कहो कि नरकगतिमें अपर्याप्त अवस्थाके साथ दूसरे गुणस्थानका विरोध क्यों है? तो उसका यह उत्तर है, कि यह नारकियोंका स्वभाव है, और स्वभाव दूसरेके प्रश्नके योग्य नहीं होते हैं।

शंका--- यदि ऐसा है, तो अन्य गतियोंके अपर्याप्त कालमें भी सासादन गुणस्थानका सद्भाव मत होओ, क्योंकि, अपर्याप्त कालके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध है?

समाधान--- यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि, जिसतरह नारकियोंके अपर्याप्त कालके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध है, उस तरह शेष गतियोंके अपर्याप्त कालके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध नहीं है। केवल सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानका तो सदा ही सभी गतियोंके अपर्याप्त कालके साथ विरोध है, क्योंकि, अपर्याप्त कालमें सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानका अस्तित्व बतानेवाले आगमका अभाव है।

शंका--- आगममें अपर्याप्त कालमें मिश्र गुणस्थानका सत्त्व क्यों नहीं बताया?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, आगम तर्कका विषय नहीं है।

शंका--- तो फिर सासादन और मिश्र इन दोनों गुणस्थानोंका नरकगतिमें सत्त्व कैसे संभव है?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, परिणामोंके निमित्तसे नरकगतिकी पर्याप्त अवस्थामें उनकी उत्पत्ति बन जाती है।

शंका--- तो फिर सम्यग्दृष्टि भी उसी प्रकार होते हैं, ऐसा मानना चाहिये? अर्थात्

---

१. मु. सहापर्याप्तया।

२. (णेरइया) सासणसम्माइट्ठिसम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाणे णियमा पज्जत्ता। जी. सं. मू. ८०.

३. तिरिक्खा × × मणुस्सा × × देवा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता। जी. सं. सु. ८४, ८९, ९४.

४. मरणं मरणंतसमुग्घादो वि य ण मिस्सम्मि। गो. जी. २४.

इष्टत्वात् । सासादनस्येव सम्यग्दृष्टेरपि तत्रोत्पत्तिर्मा भदिति चेन्न, प्रथमपृथिव्युत्पत्तिं प्रति निषेधाभावात् । प्रथमपृथिव्यामिव द्वितीयादिषु पृथिवीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्त इति चेन्न, सम्यक्त्वस्य तत्रतन्यापर्याप्ताद्धया सह विरोधात् । नोपरिमगुणानां तत्र सम्भवः, तेषां संयमासंयमसंयमपर्यायेण सहात्र विरोधात् ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तिर्यग्गतौ गुणस्थानान्वेषणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

तिरिक्खा पंचसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदा त्ति[2] ॥ २६ ॥

तिर्यग्ग्रहणं शेषगतिनिराकरणार्थम् । पञ्चसु स्थानेषु[3] सन्तीति वचनं षडादिसंख्याप्रतिषेधफलम् । मिथ्यादृष्टयादिगुणानां नामनिर्देशः सामान्यवचनतः

नरकगतिमें पर्याप्त अवस्थामें सम्यग्दर्शनकी भी उत्पत्ति मानना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यह बात तो हमें इष्ट ही है, अर्थात् सातों पृथिवियोंकी पर्याप्त अवस्थामें सम्यग्दृष्टियोंका सद्भाव माना गया है ।

शंका— जिस प्रकार सासादनसम्यग्दृष्टि मरकर नरकमें उत्पन्न नहीं होते हैं, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टियोंकी मरकर नरकमें उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि सम्यग्दृष्टि मरकर प्रथम पृथिवीमें उत्पन्न होते हैं, इसका आगममें निषेध नहीं है ।

शंका— जिस प्रकार प्रथम पृथिवीमें सम्यग्दृष्टि मरकर उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार द्वितीयादि पृथिवियोंमें सम्यग्दृष्टि जीव मरकर क्यों उत्पन्न नहीं होते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, द्वितीयादि पृथिवियोंके अपर्याप्त कालके साथ सम्यग्दर्शनका विरोध है, इसलिये सम्यग्दृष्टि मरकर द्वितीयादि पृथिवियोंमें उत्पन्न नहीं होते हैं ।

इन चार गुणस्थानोंके अतिरिक्त ऊपरके गुणस्थानोंका नरकमें सद्भाव नहीं है, क्योंकि, संयमासंयम और संयम-पर्यायके साथ नरकगतिमें रहनेका विरोध है ।

अब तिर्यंच गतिमें गुणस्थानोंके अन्वेषण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत इन पांच गुणस्थानोंमें तिर्यंच होते हैं ॥ २६ ॥

शेष गतियोंके निराकरण करनेके लिये 'तिर्यग्' पदका ग्रहण किया है । छह संख्या आदिके निवारण करनेके लिये 'पांच गुणस्थानोंमें होते हैं' यह पद दिया है । 'तिर्यंच

---

१ हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसिवणभवणसव्वइत्थीणं । पुण्णिदरे ण हि सम्मो ॥ गो. जी. १२८.

२ तिर्यग्गतौ तान्येव संयतासंयतस्थानाधिकानि सन्ति । स. सि. १८.

३ मु. पञ्चसु गुणस्थानेषु ।

समुत्पद्यमानसंशयनिरोधार्थः । बद्धायुरसंयतसम्यग्दृष्टिसासादनानामिव न सम्यग्मिथ्यादृष्टिसंयतासंयतानां च तत्रापर्याप्तकाले सम्भवः समस्ति, तत्र तेन
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
तयोर्विरोधात् । अथ स्यात्तिर्यञ्चः पञ्चविधाः – तिर्यञ्चः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः पञ्चेन्द्रियपर्याप्ततिर्यञ्चः पञ्चेन्द्रियपर्याप्ततिरश्च्यः पञ्चेन्द्रियापर्याप्ततिर्यञ्च इति । तत्र न ज्ञायते क्वेमानि पञ्च गुणस्थानानि सन्तीति ? उच्यते, न तावदपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु पञ्च गुणाः सन्ति, लब्ध्यपर्याप्तेषु मिथ्यादृष्टिव्यतिरिक्तशेषगुणासम्भवात् । तत्कुतोऽवगम्यत इति चेत् ? ' पंचिदिय-तिरिक्ख-अपज्जत्त-मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया, असंखेज्जा'[1] इदि, तत्रैकस्यैव मिथ्यादृष्टिगुणस्य संख्यायाः प्रति-

पांच गुणस्थानोंमें होते हैं' इस सामान्य वचनसे संशय उत्पन्न हो सकता है कि वे पांच गुणस्थान कौन कौन हैं, इसलिये इस संशयको दूर करनेके लिये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंका नामनिर्देश किया है ।

जिस प्रकार बद्धायुष्क असंयतसम्यग्दृष्टि और सासादन गुणस्थानवालोंका तिर्यंचगतिके अपर्याप्तकालमें सद्भाव संभव है, उस प्रकार सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयतोंका तिर्यंचगतिके अपर्याप्तकालमें सद्भाव संभव नहीं है, क्योंकि, तिर्यंचगतिमें अपर्याप्त कालके साथ सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयतका विरोध है ।

शंका— तिर्यंच पांच प्रकारके होते हैं, सामान्य-तिर्यंच, पंचेन्द्रिय-तिर्यंच, पंचेन्द्रिय-पर्याप्त-तिर्यंच, पंचेंन्द्रिय-पर्याप्त-तिर्यंचिनी और पंचेन्द्रिय-अपर्याप्त-तिर्यंच । परंतु यह जाननेमें नहीं आया कि इन पांच भेदोंमेंसे किस भेदमें पूर्वोक्त पांच गुणस्थान होते हैं ?

समाधान— उक्त शंका पर उत्तर देते हैं कि अपर्याप्त-पंचेन्द्रिय-तिर्यंचोंमें तो पांच गुणास्थान होते नहीं हैं, क्योंकि, लब्ध्यपर्याप्तकोंमें एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको छोड़कर शेष गुणस्थान ही असंभव हैं ।

शंका— यह कैसे जाना कि लब्ध्यपर्याप्तक पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें पहला ही गुणस्थान होता है ?

समाधान— 'पंचेन्द्रिय-तिर्यंच-अपर्याप्त-मिथ्यादृष्टि जीव द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा कितने हैं' इस प्रकारकी शंका होने पर द्रव्यप्रमाणानुगममें उत्तर दिया कि 'असंख्यात' हैं । इस तरह द्रव्यप्रमाणानुगममें लब्ध्यपर्याप्तक-पंचेन्द्रिय-तिर्यंचोंके एक ही मिथ्यादृष्टि-गुणस्थानकी संख्याका प्रतिपादन करनेवाला आर्षवचन मिलता है । इससे पता चलता है कि लब्ध्यपर्याप्तकोंके एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही होता है। शेष चार प्रकारके तिर्यंचोंमें पांचों ही गुणस्थान होते हैं । यदि शेषके चार भेदोंमें पांच गुणस्थान न माने जाय, तो उन चार प्रकारके तिर्यंचोंमें पांच गुणस्थानोंकी संख्या आदिके प्रतिपादन करनेवाले द्रव्यानुयोग आदि आगममें

१ जी. द. सू. २१.

पादकार्षात् । शेषेषु पञ्चापि गुणस्थानानि सन्ति, अन्यथा तत्र पञ्चानां गुणस्थानानां संख्यादिप्रतिपादकद्रव्याद्यार्षस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात् । अत्र पञ्चविधास्तिर्यञ्चः किन्न निरूपिता इति चेन्न, 'आकृष्टाशेषविशेषविषयं सामान्यम्' इति द्रव्यार्थिकनयावमार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराजलम्बनात् । तिरश्चीष्वपर्याप्ताद्धायां मिथ्यादृष्टिसासादना एव सन्ति[1], न शेषास्तत्र तन्निरूपकार्षाभावात्[2] । भवतु नाम सम्यग्मिथ्यादृष्टिसंयतासंयतानां तत्रासत्त्वं पर्याप्ताद्धायामेवेति नियमोपलम्भात् । कथं पुनरसंयतसम्यग्दृष्टीनामसत्त्वमिति ? न, तत्रासंयतसम्यग्दृष्टीनामुत्पत्तेरभावात् । तत्कुतोऽवगम्यत इति चेत्—

छसु हेट्ठिमासु पुढवीसु जोइस-वण-भवण-सव्व-इत्थीसु ।
णेदेसु समुप्पज्जइ समाइट्ठी दु जो जीवो[3] ॥ १३३ ॥ इत्यार्षात् ।

अप्रमाणताका प्रसंग आ जायगा ।

शंका— सूत्रमें तिर्यंचसामान्यके स्थानपर पांच प्रकारके तिर्यंचोंका निरूपण क्यों नहीं किया ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, 'अपनेमें संभव संपूर्ण विशेषोंको विषय करनेवाला सामान्य होता है' इस न्यायके अनुसार द्रव्यार्थिक अर्थात् सामान्य नयके अवलम्बनसे संपूर्ण भेदोंका तिर्यंच-सामान्यमें अन्तर्भाव कर लिया है, अतएव पांचों भेदोंका अलग अलग निरूपण नहीं किया, किंतु तिर्यंच इतना सामान्य पद दिया है ।

तिर्यंचनियोंके अपर्याप्तकालमें मिथ्यादृष्टि और सासादन ये दो गुणस्थानवाले ही होते हैं, शेष तीन गुणस्थानवाले नहीं होते हैं, क्योंकि, तिर्यंचनियोंके अपर्याप्त-कालमें शेष तीन गुणस्थानोंका निरूपण करनेवाले आगमका अभाव है ।

शंका— तिर्यंचनियोंके अपर्याप्तकालमें सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयत इन दो गुणस्थानवालोंका अभाव रहा आवे, क्योंकि, ये दो गुणस्थान पर्याप्त-कालमें ही पाये जाते हैं, ऐसा नियम मिलता है । परंतु उनके अपर्याप्त-कालमें असंयतसम्यग्दृष्टि जीवोंका अभाव कैसे माना जा सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, तिर्यंचनियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टियोंकी उत्पत्ति नहीं होती है, इसलिये उनके अपर्याप्त-कालमें चौथा गुणस्थान नहीं पाया जाता है ।

शंका— यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान— सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम पृथिवीके विना नीचेकी छह पृथिवियोंमें, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवोंमें, और सर्व प्रकारकी स्त्रियोंमें मरकर उत्पन्न नहीं होता है ॥ १३३ ॥

---

१ पंचिंदियतिरिक्खजोणिणीसु मिच्छाइट्ठिसासणसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ जी. सं. सू. ८७.

२ सम्मामिच्छाइट्ठिअसंजदसम्माइट्ठिसंजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ । जी. सं. सू. ८८.

३ प्रा. पं. १, १९३.

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मनुष्यगतौ गुणस्थानान्वेषणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

मणुस्सा चोद्दससु ट्ठाणेसु[1] अत्थि मिच्छाइट्ठी, सासणसम्माइट्ठी, सम्मामिच्छाइट्ठी, असंजदसम्माइट्ठी, संजदासंजदा, पमत्तसंजदा, अप्पमत्तसंजदा, अपुव्वकरण-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा, अणियट्टि-बादर-संपराय[2]-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा, सुहुम-संपराय[3]-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा, उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था, खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था, सजोगिकेवली, अजोगिकेवलि त्ति[4] ॥२७॥

एयस्स सुत्तस्स अत्थो पुव्वं उत्तो त्ति णेदाणिं वुच्चदे, जाणिद-जाणावण[5]-फलाभावादो । पुव्वमवुत्तमुवसामण-खवण-विहिं एत्थ संबद्धमुवसामग-क्खवग-सरूव-जाणावणट्ठं संखेवदो भणिस्सामो । तं जहा, तत्थ ताव उवसामण-विहिं वत्तइस्सामो । अणंताणुबंधि-कोध-माण-माया-लोभ-सम्मत्त-सम्मामिच्छत्त-मिच्छत्तमिदि एदाओ सत्तपयडीओ असंजदसम्माइट्ठि-प्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदो त्ति ताव एदेसु जो वा

इस आर्ष-वचनसे जानते हैं कि असंयतसम्यग्दृष्टि जीव तिर्यंचनियोंमें उत्पन्न नहीं होते हैं।

अब मनुष्यगतिमें गुणस्थानोंके अन्वेषण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण-प्रविष्ट-विशुद्धि-संयतोंमें उपशमक और क्षपक, अनिवृत्ति-बादरसांपराय-प्रविष्ट-विशुद्धि-संयतोंमें उपशमक और क्षपक, सूक्ष्मसांपराय-प्रविष्ट-विशुद्धिसंयतोंमें उपशमक और क्षपक, उपशांतकषाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीणकषाय-वीतरागछद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इस तरह इन चौदह गुणस्थानोंमें मनुष्य पाये जाते हैं ॥ २७ ॥

इस सूत्रका अर्थ पहले कहा जा चुका है इसलिये अब नहीं कहते हैं, क्योंकि, जिसका ज्ञान हो गया है उसका फिरसे ज्ञान करानेमें कोई विशेष फल नहीं है । पहले उपशमन और क्षपणविधिका स्वरूप नहीं कहा है, इसलिये यहां पर संबन्ध-प्राप्त उपशमक और क्षपकके स्वरूपका ज्ञान करानेके लिये उपशमन और क्षपणविधिको संक्षेपसे कहते हैं । वह इस प्रकार है। उसमें भी पहले उपशमनविधिको कहते हैं—

अनन्तानुबन्धी-क्रोध, मान, माया और लोभ, सम्यक्प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व तथा

---

१. मु. गुणट्ठाणेसु । २. मु. सांपराइय ३. मु. सांपराइय ४. मनुष्यगतौ चतुर्दशापि सन्ति । स. सि. १. ८. ५. मु. जाणावणे ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सो वा उवसामेदि[1]। सरूवं छंडिय अण्ण-पयडि-सरूवेणच्छणमणंताणुबंधीणमुवसमो[2]। दंसणतियस्स उदयाभावो उवसमो[3], तेसिमुवसंताणं पि ओकड्डुक्कड्डुण-पर-पयडि-संकमाणमत्थित्तादो। अपुव्वकरणे ण एक्कं पि कम्ममुवसमदि। किंतु अपुव्वकरणो पडिसमय मणंतगुण-विसोहीए वड्ढंतो अंतोमुहुत्तेणंतोमुहुत्तेण एक्केक्कं ट्ठिदि-खंडयं घादेंतो संखेज्जसहस्साणि ट्ठिदि-खंडयाणि घादेदि, तत्तियमेत्ताणि ट्ठिदि-बंधोसरणाणि

....

मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियोंका असंयतसम्यग्दृष्टिसे अप्रमत्तसंयत गुणस्थानतक इन चार गुणस्थानोंमें रहनेवाला कोई भी जीव उपशम करनेवाला होता है। अपने स्वरूपको छोड़कर अन्य प्रकृतिरूपसे रहना अनन्तानुबन्धीका उपशम है। दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोंका उदयमें नहीं आना ही उपशम है, क्योंकि, उपशान्त हुई, उन तीन प्रकृतियोंका उत्कर्षण, अपकर्षण और परप्रकृतिरूपसे संक्रमण पाया जाता है। अपूर्वकरण गुणस्थानमें एक भी कर्मका उपशम नहीं होता है। किंतु अपूर्वकरण गुणस्थानवाला जीव प्रत्येक समयमें अनन्तगुणी विशुद्धिसे बढ़ता हुआ एक एक अन्तर्मुहूर्तमें एक एक स्थिति-खण्डका घात करता हुआ संख्यात हजार स्थिति-खण्डोंका घात करता है। और उतने ही स्थिति-बंधापसरणोंको करता हैं। तथा

....

१ वेदगसम्माइट्ठी जीवो × × अणंताणुबंधी विसंजोइय अंतोमुहुत्तं अधापवत्तो होदूण पुणो पमत्तगुणं पडिवज्जिय असादअरदिसोगअजसगित्तिआदीणि कम्माणि अंतोमुहुत्तं बंधिय दंसणमोहणीयमुवसामेदि। धवला अ. पृ. ४३६. वेदयसम्मादिट्ठी अणंताणुबंधी अविसंजोएदूण कसाए उवसामेदुं णो उवट्ठादि। अविसंजोइदाणंताणुबंधिचउक्कस्स वेदयसम्माइट्ठिस्स कसायोवसामणाणिबंधणदंसणमोहोवसामणादिकिरियासु पवुत्तीए असंभवादो। जयध. अ. पृ. १००२. उवसमचरियाभिमुहो वेदगसम्मो अणं विजोइत्ता। अंतोमुहुत्तकालं अधापवत्तो पमत्तो य ॥ ल. क्ष. २०५. णत्थि अणं उवसमगे। गो. क. ३९१. 'णिरयतिरियाउ दोण्णि वि पढमकसायाणि दंसणतियाणि। हीणा एदे णेया भंगे एक्केक्कगा होंति ॥ गो. क. ३८४.' इति वचनादुपशमश्रेण्यां १४६ प्रकृतिसत्त्वस्थानस्य सद्भावादनन्तानुबन्धिचतुष्कस्य सत्तापि विभाव्यते, ततो ज्ञायते यद् द्वितीयोपशम-सम्यक्त्वमनन्तानुबन्धिन उपशमेनापि भवति। अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयतानामन्यतमोऽनन्तानु-बन्ध्युपशमनां चिकीर्षुः × × यथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणं च करोति। क. प्र. पृ. २६७. वेयगसम्मद्दिट्ठी चरित्तमोहुवसमाए चिट्ठंतो। अजउ देसजई वा विरतो वा विसोहिअद्धाए। क. प्र. उप. २७ चारित्र-मोहनीयस्योपशमना क्षीणसप्तकस्य वैमानिकेष्वेव बद्धायुष्कस्य भवति। अबद्धायुष्कस्तु क्षपकश्रेणिमारोहति। यस्तु वेदकसम्यग्दृष्टिः सन्नुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते सोऽनियतो बद्धायुष्कोऽबद्धायुष्को वा। स च केषाञ्चिन्मते-नानन्तानुबन्धिनो विसंयोज्य चतुर्विंशतिसत्कर्मा सन् प्रतिपद्यते। केषाञ्चित्पुनर्मतेनोपशमय्यापि, ततो विसंयोजितानन्तानुबन्धिकषाय उपशमितानंतानुबन्धिकषायो वा सन् दर्शनत्रितयमुपशमयति। अथवा × आदौ दर्शनमोहनीयं क्षपयित्वा उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते, अथवा दर्शनमोहनीयं प्रथम मुपशमय्यापि प्रतिपद्यते। कथमुपशमय्येत्य त आह–श्रामण्ये संयमे स्थित्वा। पं. सं. पृ. १७६.

२ तत एभिस्त्रिभिरपि करणैर्यथोक्तक्रमेणानन्तानुबन्धिनः कषायानुपशमयति। × × एवमेकीयमतेनानन्तानुबन्धिनामुपशमोऽभिहितः, अन्ये त्वनन्तानुबन्धिनां विसंयोजनामेवाभिदधति। आ. चा. पृ. २७१.

३ करणपरिणामेहि निस्सत्तीकयस्स दंसणमोहणीयस्य उदयपज्जाएण विणा अवट्ठाणमुवसमो त्ति। जयध. अ. पृ. ९५४. दर्शनमोहस्य प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशानामुपशमेन उदयायोग्यभावेन जीवः उपशान्तः उपशमसम्यग्दृष्टिर्भवति। ल. क्ष. सं. टी. १०२.

करेदि। एक्केक्कं ट्ठिदि-खंडय-कालब्भंतरे संखेज्ज-सहस्साणि अणुभाग-खंडयाणि [1]घादेदि। पडिसमयमसंखेज्जगुणाए सेढीए पदेस-णिज्जरं करेदि। जे अप्पसत्थ-कम्मंसे ण बंधदि तेसिं पदेसग्गमसंखेज्ज-गुणाए सेढीए अण्ण-पयडीसु बज्झमाणियासु संकामेदि। पुणो अपुव्वकरणं वोलेऊण अणियट्टि-गुणट्ठाणं पविसिऊणंतोमुहुत्तमणेणेव विहाणेणच्छिय बारस-कसाय-णव-णोकसायाणमंतरं[2] अंतोमुहुत्तेण करेदि। अंतरकद-पढम-समयादो[3] उवरि अंतोमुहुत्तं गंतूण असंखेज्ज-गुणाए सेढीए णउंसय-वेदमुवसामेदि। उवसमो णाम किं? उदय उदीरण-ओकड्डुक्कड्डुण-परपयडिसंकम-ट्ठिदि-अणुभाग-खंडयघादेहि विणा अच्छणमुवसमो[4]। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण णवुंसयवेदमुवसमिद-विहाणेणित्थिवेदमुवसामेदि। तदो अंतोमहुत्तं गंतूण तेणेव

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एक एक स्थिति-खण्डके कालमें संख्यात हजार अनुभाग-खण्डोंका घात करता है। और प्रतिसमय असंख्यात-गुणित-श्रेणीरूपसे प्रदेशोंकी निर्जरा करता है। तथा जिन अप्रशस्त प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता है, उनके प्रदेशोंको उस समय बंधनेवाली अन्य प्रकृतियोंमें असंख्यातगुणित श्रेणीरूपसे संक्रमण करता है। पुनः अपूर्वकरण गुणस्थानको उल्लंघन करके और अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें प्रवेश करके, एक अन्तर्मुहूर्त पूर्वोक्त विधिसे रहता है। तत्पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त कालके द्वारा बारह कषाय और नौ नोकषाय इनका अन्तर (करण) करता है। (विवक्षित कर्मप्रकृतियोंके नीचेके व ऊपरके निषेकोंको छोड़कर बीचके कितने ही निषेकोंके द्रव्यको अन्य निषेकोंके द्रव्यमें निक्षेपण करके बीचके निषेकोंके अभाव करनेको अन्तर-करण कहते हैं।) अन्तरकरणविधिके हो जाने पर प्रथम समयसे लेकर ऊपर अन्तर्मुहूर्त जाकर असंख्यातगुणी श्रेणीके द्वारा नपुंसकवेदका उपशम करता है।

शंका— उपशम किसे कहते हैं?

समाधान— उदय, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, परप्रकृतिसंक्रमण, स्थिति-काण्डक-घात और अनुभाग-काण्डकघातके विना ही कर्मोंके सत्तामें रहनेको उपशम कहते हैं।

तदनन्तर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर नपुंसकवेदकी उपशमविधिसे ही स्त्रीवेदका

---

१ अ. ब. पादेदि।

२ अंतरं विरहो सुण्णभावो त्ति एयट्ठो तस्स करणमन्तरकरणं। हेट्ठा उवरिं च केत्तियाओ ट्ठिदीओ मोत्तूण मज्झिल्लाणं ट्ठिदीणं अंतोमुहुत्तपमाणाणं णिसेगे सुण्णत्तसंपादणमंतरकरणमिदि। जयध. अ. प्र. १००९.　　　　३ मु. अंतरे कदे पढमसमयादो।

४ आत्मनि कर्मणः स्वशक्तेः कारणवशादनुद्भूतिरुपशमः। यथा कतकादिद्रव्यसंम्बन्धादम्भसि पङ्कस्योपशमः। स. सि. २. १. कर्मणोऽनुद्भूतस्ववीर्यवृत्तितोपशमोऽधःप्रापितपङ्कवत्। त. रा. २. १. १. अनुद्भूतस्वसामर्थ्यवृत्तितोपशमो मतः। कर्मणां पुंसि तोयादावधःप्रापितपङ्कवत्॥ त. श्लो. वा. २. १. २. उपशमिता नाम यथा रेणुनिकरः सलिलबिन्दुनिवहैरभिषिच्याभिषिच्य द्रुघणादिभिर्निष्कुट्टितो निष्पन्दो भवति तथा कर्मरेणुनिकरोऽपि विशोधिसलिलप्रवाहेण परिषिच्य परिषिच्यानिवृत्तिकरणरूपद्रुघणनिष्कुट्टितः संक्रमणोदयोदीरणानिधत्तिनिकाचनाकरणानामयोग्यो भवति। क. प्र. पृ. २६७.

विहिणा छण्णोकसाए पुरिसवेद-चिराण-संत-कम्मेण सह जुगवं उवसामेदि[1]। तदो उवरि समऊण-बे-आवलियाओ गंतूण पुरिसवेद-णवक-बंधमुवसामेदि । तत्तो अंतोमुहुत्तमुवरिं गंतूण पडिसमयमसंखेज्जगुणाए सेढीए[2] अपच्चक्खाण-पच्चक्खाणावरणसण्णिदे दोण्णि वि कोधे कोध-संजलण-चिराण-संतकम्मेण सह जुगवमुवसामेदि। तत्तो उवरिं दो आवलियाओ समऊणाओ गंतूण कोध-संजलण-णवक-बंधमुवसामेदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण तेसिं चेव दुविहं माणमसंखेज्जाए गुणसेढीए माणसंजलण-चिराण-संत-कम्मेण सह जुगवं उवसामेदि । तदो समऊण-दो-आवलियाओ गंतूण माणसंजलणमुवसामेदि । तदो पडिसमयमसंखेज्जगुणाए सेढीए उवसामेंतो अंतोमुहुत्तं गंतूण दुविधं मायं माया-संजलण-चिराण-संत-कम्मेण सह जुगवं उवसामेदि । तदो दो[3] आवलियाओ समऊणाओ गंतूण माया-संजलणमुवसामेदि । तदो समयं पडि असंखेज्जगुणाए सेढीए पदेसमुवसामेंतो अंतोमुहुत्तं गंतूण लोभ-संजलण-चिराण-संत-कम्मेण सह पच्चक्खाणापच्चक्खाणावरण-दुविहं लोभं लोभ-वेदगद्धाए विदिय-ति-भागे

उपशम करता है । फिर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर उसी विधिसे पुरुषवेदके (एक समय कम दो आवलीमात्र नवकसमयप्रबद्धोंको छोड़कर बाकीके संपूर्ण) प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मके साथ छह नोकषायका उपशम करता है । इसके आगे एक समय कम दो आवली काल बिता कर पुरुषवेदके नवक समयप्रबद्धका उपशम करता है । इसके पश्चात् प्रत्येक समयमें असंख्यातगुणी श्रेणीके द्वारा संज्वलनक्रोधके एक समय कम दो आवलीमात्र नवक समयप्रबद्धको छोड़कर पहलेके सत्तामें स्थित कर्मोंके साथ अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान क्रोधोंका एक अन्तर्मुहूर्तमें एकसाथ ही उपशम करता है । इसके पश्चात् एक समय कम दो आवलीमें क्रोधसंज्वलनके नवक-समयप्रबद्धका उपशम करता है । तत्पश्चात् प्रतिसमय असंख्यातगुणी श्रेणीके द्वारा संज्वलनमानके एक समय कम दो आवलीमात्र नवक-समयप्रबद्धको छोड़कर प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मोंके साथ अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानमानका एक अन्तर्मुहूर्तमें उपशम करता है । इसके पश्चात् एक समय कम दो आवलीमात्र कालमें संज्वलनमानके नवक-समयप्रबद्धका उपशम करता है । तदनन्तर प्रतिसमय असंख्यात गुणित श्रेणीरूपसे उपशम करता हुआ, मायासंज्वलनके नवक-समयप्रबद्धको छोड़कर प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मोंके साथ अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान मायाका अन्तर्मुहूर्तमें उपशम करता है । तत्पश्चात् एक समय कम दो आवलीमात्र कालमें माया संज्वलनके नवक-समयप्रबद्धका उपशम करता है । तत्पश्चात् प्रत्येक समयमें असंख्यात-गुणी श्रेणीरूपसे कर्मप्रदेशोंका उपशम करता हुआ, लोभवेदकके दूसरे त्रिभागमें सूक्ष्मकृष्टिको करता हुआ संज्वलनलोभके नवक-समयप्रबद्धको छोड़कर प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मोंके साथ प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान इन दोनों लोभोंका एक अन्तर्मुहूर्तमें उपशम करता है । इस तरह

---

१ ल. क्ष. गा. २६२. इत्यत्र विशेषो द्रष्टव्यः । २ मु. -मसंखेज्जाए गुणसेढीए ,
३ अ. ब. तदो आवलियाओ

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सुहुमकिट्टीओ करेंतो उवसामेदि । सुहुमकिट्टि मोत्तूण अवसेसो बादरलोभो फद्दयं गदो सव्वो 'णवकबंधुच्छिट्ठावलिय-वज्जो अणियट्टि-चरिम-समए उवसंतो'[2] । णवुंसयवेदप्पहुडि जाव बादरलोभ-संजलणो त्ति ताव एदासिं पयडीणमणियट्टी उवसामगो होदि । तदो णंतर-समए सुहुमकिट्टि-सरूवं लोभं वेदंतो णट्ठ-अणियट्टि-सण्णो सुहुमसांपराइओ होदि । तदो सो अप्पणो चरिम-समए लोह-संजलणं सुहुमकिट्टि-सरूवं णिस्सेसमुवसामिय उवसंत-कसाय-वीदराग-छदुमत्थो होदि[3] । एसा मोहणीयस्स उवसामण-विही ।

सूक्ष्मकृष्टिगत लोभको छोड़कर और एक समय कम दो आवलीमात्र नवक-समयप्रबद्ध तथा उच्छिष्टावली मात्रनिषेकोंको छोड़कर शेष स्पर्द्धकगत संपूर्ण बादरलोभ अनिवृत्तिकरणके चरम समयमें उपशान्त हो जाता है । इस प्रकार नपुंसकवेदसे लेकर जब तक बादर-संज्वलन-लोभ रहता है तबतक अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाला जीव इन पूर्वोक्त प्रकृतियोंका उपशम करनेवाला होता है । इसके अनन्तर समयमें जो सूक्ष्मकृष्टिगत लोभका अनुभव करता है और जिसने अनिवृत्ति इस संज्ञाको नष्ट कर दिया है, ऐसा जीव सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती होता है । तदनन्तर वह अपने कालके चरम समयमें सूक्ष्मकृष्टिगत संपूर्ण लोभ-संज्वलनका उपशम करके उपशान्तकषाय-वीतराग-छद्मस्थ होता है । यह मोहनीयकी उपशमनविधि है ।

विशेषार्थ--- लब्धिसार आदि ग्रन्थोंमें द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति अप्रमत्त-संयत गुणस्थानमें ही बतलाई है, किन्तु यहां पर उपशमन विधिके कथनमें उसकी उत्पत्ति असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थानतक किसी भी एक गुणस्थानमें बतलाई गई है । धवलामें प्रतिपादित इस मतका उल्लेख श्वेताम्बर संप्रदायमें प्रचलित कर्मप्रकृति आदि ग्रंथोंमें देखनेमें आता है ।

तथा अनन्तानुबन्धीके अन्य प्रकृतिरूपसे संक्रमण होनेको ग्रन्थान्तरोंमें विसंयोजना कहा है, और यहां पर द्वितीयोपशमका प्रकरण होनेसे उसे उपशम कहा है । सो यह केवल शब्द भेद है । स्वयं वीरसेन स्वामीको द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें अनन्तानुबन्धीका अभाव इष्ट है ।

उपशमन और क्षपण विधिमें सर्वत्र एक समय कम दो आवलीमात्र नवक-समय-प्रबद्धका उल्लेख आया है । और वहीं पर यह भी बतलाया है कि इनका प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मोंके साथ उपशमन या क्षपण न होकर अनन्तर उतने ही कालमें एक एक निषेकके

१ (यत्र) स्थितिसत्त्वमावलिमात्रमवशिष्यते तदुच्छिष्टावलिसंज्ञम् । ल. क्ष. ११३.

२ ल. क्ष. २९५. संज्वलनबादरलोभस्य प्रथमस्थितौ उच्छिष्टावलिमात्रेऽवशिष्टे उपशमनावलि-चरमसमये लोभत्रयद्रव्यं सर्वमप्युपशमितं भवति । तत्र सूक्ष्मकृष्टिगतद्रव्यं समयोनद्व्यावलिमात्रसमयप्रबद्ध-नवकबन्धद्रव्यं उच्छिष्टावलिमात्रनिषेकद्रव्यं च नोपशमयति । एतद्द्रव्यत्रयं मुक्त्वा लोभत्रयस्य सर्वमपि सत्त्वद्रव्यमुपशमितमित्यर्थः । सं. टी.

३ विशेषजिज्ञासुभिर्लब्धिसारस्य चारित्रोपशमनविधिरवलोकनीयः । ल. क्ष. २०५-३५१.

खवण-विहिं वत्तइस्सामो । खवणं णाम किं ? अट्ठण्हं कम्माणं मूलुत्तर-भेय-भिण्ण-पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसाणं जीवादो जो णिस्सेस-विणासो तं खवणं णाम[1] । अणंताणुबंधि-कोध-माण-माया-लोभ-मिच्छत्त-सम्मामिच्छत्त-सम्मत्तमिदि एदाओ सत्तपयडीओ असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदो वा पमत्तसंजदो वा अप्पमत्तजदो वा खवेदि[2] । किमक्कमेण किं कमेण खवेदि ? ण, पुव्वमणंताणुबंधि-चउक्कं तिण्णि वि

क्रमसे उपशम या क्षय होता है । इसका यह अभिप्राय है कि जिन कर्मप्रकृतियोंकी बन्ध, उदय और सत्त्व-व्युच्छित्ति एकसाथ होती है, उनके बन्ध और उदय-व्युच्छित्तिके कालमें एक समय कम दो आवलीमात्र नवक-समयप्रबद्ध रह जाते हैं, जिनकी सत्त्व-व्युच्छित्ति अनन्तर होती है । वह इस प्रकार कि विवक्षित (पुरुषवेद आदि) प्रकृतिके उपशमन या क्षपण होनेके दो आवली काल अवशिष्ट रह जानेपर द्विचरमावलीके प्रथम समयमें बंधे हुए द्रव्यका, बन्धावलीको व्यतीत करके चरमावलीके प्रथम समयसे लेकर अन्तिम समयमें एक एक फालिका उपशम या क्षय होता हुआ चरमावलीके अन्त समयमें संपूर्णरीतिसे उपशम या क्षय होता है । तथा द्विचरमावलीके द्वितीय समयमें जो द्रव्य बंधता है, उसका चरमावलीके द्वितीय समयसे लेकर अन्त समयतक उपशम या क्षय होता हुआ अन्तिम फालिको छोड़कर सबका उपशम या क्षय होता है । इसी प्रकार द्विचरमावलीके तृतीयादि समयसे बंधे हुए द्रव्यका बन्धावलीको व्यतीत करके चरमावलीके तृतीयादि समयसे लेकर एक एक फालिका उपशम या क्षय होता हुआ क्रमसे दो आदि फालिरूप द्रव्यको छोड़कर शेष सबका उपशम या क्षय होता है । तथा चरमावलीके प्रथमादि समयोंमें बंधे हुए द्रव्यका उपशम या क्षय नहीं होता है, क्योंकि, बंधे हुए द्रव्यका एक आवली तक उपशम नहीं होता, ऐसा नियम है । इस प्रकार चरमावलीका संपूर्ण द्रव्य और द्विचरमावलीका एक समयकम आवलीमात्र द्रव्य उपशम या क्षय रहित रहता है, जिसका प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मके उपशम या क्षय हो जानेके पश्चात् ही उपशम या क्षय होता हैं ।

अब क्षपणविधिको कहते हैं—

शंका— क्षय किसे कहते हैं—

समाधान— जिनके मूलप्रकृति और उत्तरप्रतिके भेदसे प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध अनेक प्रकारके हो जाते हैं, ऐसे आठ कर्मोंका जीवसे जो अत्यन्त विनाश हो जाता है उसे क्षपण (क्षय) कहते हैं । अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ, तथा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति, इन सात प्रकृतियोंका असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत अथवा अप्रमत्तसंयत जीव नाश करता है ।

शंका— इन सात प्रकृतियोंका क्या युगपत् नाश करता है या क्रमसे ?

१. क्षय आत्यन्तिकी निवृत्तिः । यथा तस्मिन्नेवाम्भसि शुचिभाजनान्तरसंक्रान्ते पङ्कस्यात्यन्ताभावः । स. सि. २. १. त. रा. वा. २. १. २. त. श्लो. वा. २. १. ३.

२. पढमकसायचउक्कं इत्तो मिच्छत्तमीससम्मत्तं । अविरयसम्मे देसे पमत्ति अपमत्ति खीअंति । क. ग्रं. ६. ७८.

करणाणि काऊण अणियट्टि-करण-चरिम-समए अक्कमेण खवेदि। पच्छा पुणो वि तिण्णि वि करणाणि काऊण अधापवत्त-अपुव्वकरणाणि दो वि वोलिय अणियट्टिकरणद्धाए संखेज्जे भागे गंतूण मिच्छत्तं खवेदि। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सम्मामिच्छत्तं खवेदि। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सम्मत्तं खवेदि[1]। तदो अधापवत्तकरणं कमेण काऊणंतोमुहुत्तेण अपुव्वकरणो होदि। सो ण एक्कं पि कम्मं खवेदि, किंतु समयं पडि असंखेज्ज-गुणसरूवेण पदेस-णिज्जरं करेदि। अंतोमुहुत्तेण एक्केक्कं ट्ठिदि-खंडयं घादेंतो[2] अप्पणो कालब्भंतरे संखेज्ज-सहस्साणि ट्ठिदि-खंडयाणि घादेदि[3]। तत्तियाणि चेव ट्ठिदि-बंधोसरणाणि वि करेदि। तेहिंतो संखेज्ज-सहस्स-गुणे अणुभाग-खंडय-घादे करेदि 'एक्काणुभाग-खंडय-उक्कीरण-कालादो एक्कं ट्ठिदि-खंडय-उक्कीरण-कालो संखेज्ज-गुणो' त्ति सुत्तादो। एवं काऊण अणियट्टि-गुणट्ठाणं पविसिय तत्थ वि अणियट्टि-

---

समाधान— नहीं, क्योंकि, तीन करण करके अनिवृत्तिकरणके चरम समयमें पहले अनन्तानुबन्धी चारका एक साथ क्षय करता है। तत्पश्चात् फिरसे तीनोंही करण करके, उनमें से अधःकरण और अपूर्वकरण इन दोनों को उल्लंघन करके अनिवृत्तिकरणके संख्यातबहुभाग व्यतीत हो जानेपर मिथ्यात्वका क्षय करता है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त व्यतीतकर सम्यग्मिथ्यात्वका क्षय करता है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त व्यतीतकर सम्यक्प्रकृतिका क्षय करता है।

इस तरह क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानको प्राप्त होकर जिस समय क्षपणविधिका प्रारम्भ करता है, उस समय अधःप्रवृत्तकरणको करके क्रमसे अन्तर्मुहूर्तमें अपूर्वकरण गुणस्थानवाला होता है। वह एक भी कर्मका क्षय नहीं करता है, किंतु प्रत्येक समयमें असंख्यातगुणितरूपसे कर्म-प्रदेशोंकी निर्जरा करता है। एक एक अन्तर्मुहूर्तमें एक एक स्थितिकाण्डकका घात करता हुआ अपने कालके भीतर संख्यात-हजार स्थितिकाण्डकोंका घात करता है। और उतने ही स्थितिबन्धापसरण करता है। तथा उनसे संख्यात-हजार-गुणे अनुभागकाण्डकोंका घात करता है, क्योंकि, एक अनुभागकाण्डकके उत्कीरण कालसे एक स्थितिकाण्डकका उत्कीरण-काल संख्यातगुणा है, ऐसा सूत्र-वचन है। इस प्रकार अपूर्वकरण गुणस्थानसंबन्धी क्रियाको करके और अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें प्रविष्ट होकर, वहां पर भी अनिवृत्तिकरण कालके संख्यात बहु भागको अपूर्वकरणके समान स्थितिकाण्डक-घात आदि विधिसे बिताकर अनिवृत्तिकरणके कालमें संख्यातवांभाग शेष रहने पर स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, नरकगति, तिर्यंचगति, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति,

---

१. अयदचउक्कं तु अणं अणियट्टिकरणचरिमम्हि। जुगवं संजोगिता पुणो वि अणियट्टिकरणबहुभागं॥ वोलिय कमसो मिच्छं मिस्सं सम्मं खवेदि कमे। गो. क. ३६५, ३६६.

२. मु. कंडयं अ. ब. पादेंतो।   ३. मु. कंडयाणि अ. ब. पादेदि।

अद्धाए संखेज्जे भागे अपुव्वकरण-विहाणेण गमिय अणियट्टि-अद्धाए संखेज्जे भागे[1] सेसे थीणगिद्धि-तियं णिरयगइ-तिरियगइ-एइंदिय-बीइंदिय-तीइंदिय-चउरिंदियजादि-णिरयगइ-तिरिय-गइपाओग्गाणुपुव्वि-आदावुज्जोव-थावर-सुहुम-साधारण[2] त्ति एदाओ सोलस-पयडीओ खवेदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण पच्चक्खाणापच्चक्खाणावरण-कोध-माण-माया-लोभे अक्कमेण खवेदि[3] । एसो संत-कम्म-पाहुड-उवएसो । कसाय-पाहुड-उवएसो पुण अट्ठ-कसाएसु खीणेसु पच्छा अंतोमुहुत्तं गंतूण सोलस-कम्माणि खवेज्जंति[4] त्ति । एदे दो वि उवएसा सच्चमिदि के वि भणंति, तण्ण घडदे, विरुद्धत्तादो सुत्तादो । दो वि पमाणा इदि वयणमवि ण घडदे, ' पमाणेण पमाणा-विरोहिणा होदव्वं ' इदि णायादो । णाणा-जीवाणं णाणाविह-सत्ति-संभवाविरोहादो केसिं चि जीवाणं णट्ठेसु अट्ठसु कसाएसु पच्छा सोलसकम्म-क्खवण-सत्ती समुप्पज्जदि

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यंचगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आताप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण इन सोलह प्रकृतियोंका क्षय करता है । फिर अन्तर्मुहूर्त व्यतीतकर प्रत्याख्यानावरण और अप्रत्याख्यानावरणसम्बन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन आठ प्रकृतियोंका एकसाथ क्षय करता हैं । यह सत्कर्मप्राभृतका उपदेश है । किंतु कषायप्राभृतका उपदेश तो इस प्रकार है कि पहले आठ कषायोंके क्षय होजाने पर पीछेसे एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्वोक्त सोलह कर्म प्रकृतियाँ क्षयको प्राप्त होती हैं । ये दोनों ही उपदेश सत्य हैं, ऐसा कितने ही आचार्योंका कहना हैं । किंतु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि, उनका ऐसा कहना सूत्रसे विरुद्ध पड़ता है । तथा दोनों कथन प्रमाण हैं, यह वचन भी घटित नहीं होता है, क्योंकि, ' एक प्रमाणको दूसरे प्रमाणका विरोधी नहीं होना चाहिये ' ऐसा न्याय है ।

---

२ पु. साहारणा ।

३ णिरयतिरिक्खदु वियलं थीणतिगुज्जोव ताव एइंदी । साहरणसुहुमथावर सोलं मज्झं कसायट्ठं ॥ गो. क. ३३८. अणियट्टिबायरे थीणगिद्धितिगे निरयतिरियनामाओ । संखेज्जइमे सेसे तप्पाउग्गाओ खीअंति ॥ इत्तो हणइ कसायट्ठगंपि × × क. ग्रं. ७८, ७९.

४ तदो अट्ठकसायट्ठिदिखंडयपुधत्तेण संकामिज्जंति । जयध. अ. पृ. १०७८. तदो ट्ठिदिखंडय-पुधत्तेण अपच्छिमे ट्ठिदिखंडए उक्किण्णे एदेसिं सोलसण्हं कम्माणं ट्ठिदिसंतकम्ममावलियब्भंतरं सेसं । जयध अ.पृ.१०७९. × × खवगा पुव्वं खवित्तु अट्ठा य । पच्छा सोलादीणं खवणं इदि केहिं णिद्दिट्ठं । गो. क,३९१. प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानाष्टकमन्तयेद् गुणे नवमे । तस्मिन्नर्धक्षपिते क्षपयेदिति षोडश प्रकृतीः ॥ × × × अर्धदग्धेन्धनो वन्हिर्दहेत्प्राप्येन्धनान्तरम् । क्षपकोऽपि तथात्रान्तः क्षपयेत्प्रकृतीः पराः ॥ कषायाष्टकशेषं च क्षपयित्वाऽन्तगेत् क्रमात् । क्लीबस्त्रीवेदहास्यादिषट्कपूरुषवेदकान् ॥ एष सूत्रादेशः । अन्ये पुनराहुः, षोडश कर्माण्येव पूर्व क्षपयितुमारभते, केवलमपान्तरालेऽष्टौ कषायान् क्षपयति, पश्चात् षोडश कर्माणीति कर्मग्रन्थवृत्तौ ॥ लो. प्र., प्र. भा. पृ. ६८,

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

त्ति तेण पच्छा सोलस-कम्म-क्खयो होदि, 'कारणकमाणुसारी कज्जक्कमो' त्ति णायादो। केसिं चि जीवाणं पुव्वं सोलस-कम्म-क्खवणसत्ती समुप्पज्जदि, पच्छा अट्ठ-कसाय-क्खवण-सत्ती उप्पज्जदि त्ति णट्ठेसु सोलस-कम्मेसु पच्छा अंतोमुहुत्ते अदिक्कंते अट्ठ कसाया णस्संति। तदो ण दोण्हं उवएसाणं विरोहो त्ति के वि भणंति, तण्ण घडदे। किं कारणं? जेण अणियट्टिणो णाम जे के वि एग-समए वट्टमाणा ते सव्वे वि अदीदाणागद-वट्टमाण-कालेसु समाण-परिणामा, तदो चेय ते समाण-गुणसेढि-णिज्जरा वि। अह भिण्ण-परिणामा वुच्चंति तो वर्ताहि ण ते अणियट्टिणो, भिण्ण-परिणामादो अपुव्वकरणा इव। ण च कम्म-क्खंधाण असंखेज्ज-गुणसेढीए खवण-हेदु-परिणामे उज्झिऊणण्णे परिणामा ट्ठिदि-अणुभागखंडय-घादस्स कारणभूदा अत्थि, तेसिं णिरूवय-सुत्ताभावादो। 'कज्ज-णाणत्तादो कारण-णाणत्तमणुमाणिज्जदि' इदि एदमवि ण घडदे, एयादो मोग्गरादो बहु-कोडि-कवालोवलंभा। तत्थ वि होदु

शंका— नाना जीवोंके नाना-प्रकारकी शक्तियाँ संभव हैं, इसमें कोई विरोध नहीं आता है। इसलिये कितने ही जीवोंके आठ कषायोंके नष्ट हो जानेपर तदनन्तर सोलह कर्मोंके क्षय करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है। अतः उनके आठ कषायोंके क्षय हो जानेके पश्चात्, सोलह कर्मोंका क्षय होता है। क्योंकि, 'जिस क्रमसे कारण मिलते हैं उसी क्रमसे कार्य होता है' ऐसा न्याय है। तथा कितने ही जीवोंके पहले सोलह कर्मोंके क्षयकी शक्ति उत्पन्न होती है, और तदनन्तर आठ कषायोंके क्षयकी शक्ति उत्पन्न होती है। इसलिये पहले सोलह कर्म-प्रकृतियाँ नष्ट होती हैं, और इसके पीछे एक अन्तर्मुहूर्तके व्यतीत होनेपर आठ कषायें नष्ट होती हैं। इसलिये पूर्वोक्त दोनों उपदेशोंमें कोई विरोध नहीं आता है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं?

समाधान— परंतु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि, अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाले जितने भी जीव हैं, वे सब अतीत, वर्तमान और भविष्य काल सम्बन्धी किसी एक समयमें विद्यमान होते हुए भी समान-परिणामवाले ही होते हैं, और इसीलिये उन जीवोंकी गुणश्रेणी-निर्जरा भी समानरूपसे ही पाई जाती है। और यदि एकसमयस्थित अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवालोंको विसदृश परिणामवाला कहा जाता है, तो जिसप्रकार एक समयस्थित अपूर्वकरण गुणस्थानवालोंके परिणाम विसदृश होते हैं, अतएव उन्हें अनिवृत्ति यह संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती है, उसी प्रकार इन परिणामोंको भी अनिवृत्तिकरण यह संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकेगी। और असंख्यातगुण-श्रेणीके द्वारा कर्मस्कन्धोंके क्षपणके कारणभूत परिणामोंको छोड़कर अन्य कोई भी परिणाम स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघातके कारणभूत नहीं हैं, क्योंकि, उन परिणामोंका निरूपण करनेवाला सूत्र (आगम) नहीं पाया जाता है।

---

१ मु. कम्माणुसारी कज्जकमो। २ मु. के वि आइरिया भणंति।

णाम मोग्गरो एओ, णं तस्स सत्तीणमेयत्तं, तदो एयवखप्परुप्पत्ति-प्पसंगादो इदि चे ? तो वखहि एत्थ वि भवदु णाम ट्ठिदि-खंडयघाद-अणुभाग-खंडयघाद-ट्ठिदिबंधोसरण-गुणसंकम-गुणसेढि-ट्ठिदि-अणुभागबंध-परिणामाणं णाणत्तं तो वि एग-समय-संठिय-णाणा-जीवाणं सरिसा चेव, अण्णहा अणियट्टि-विसेसणाणुववत्तीदो । जइ एवं, तो सव्वेसिमणियट्टीणमेय-समयम्हि वट्टमाणाणं ट्ठिदि-अणुभागघादाणं सरिसत्तं पावेदि त्ति चे ? ण एस दोसो, इट्ठत्तादो । पढम-ट्ठिदि-अणुभाग-खंडयाणं सरिसत्त-णियमो[1] णत्थि, तदो णेदं घडदि त्ति चे ? स दोसो ण दोसो, हद-सेस-ट्ठिदि-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका–– अनेक प्रकारके कार्य होनेसे उनके साधनभूत अनेक प्रकारके कारणोंका अनुमान किया जाता है ? अर्थात् नववें गुणस्थानमें प्रतिसमय असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा, स्थिति-काण्डकघात आदि अनेक कार्य देखे जाते हैं, इसलिये उनके साधनभूत परिणाम भी अनेक प्रकारके होने चाहिये ।

समाधान–– यह कहना भी नहीं बनता है, क्योंकि, एक मुद्गरसे अनेक प्रकारके कपालरूप कार्यकी उपलब्धि होती है ।

शंका–– वहां भी मुद्गर एक भले ही रहा आवे, परंतु उसकी शक्तियोंमें एकपना नहीं बन सकता है । यदि मुद्गरकी शक्तियोंमें भी एकपना मान लिया जावे तो उससे एक कपालरूप कार्यकी ही उत्पत्ति होगी ?

समाधान–– यदि ऐसा है तो यहां पर भी स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, स्थितीबन्धापसरण, गुणसंक्रमण, गुणश्रेणी शुभप्रकृतियोंके स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धके कारणभूत परिणामोंमें नानापना रहा आवे, तो भी एक समयमें स्थित नाना जीवोंके परिणाम सदृश ही होते हैं, अन्यथा उन परिणामोंके 'अनिवृत्ति' यह विशेषण नहीं बन सकता है ।

शंका–– यदि ऐसा है, तो एक समयमें स्थित संपूर्ण अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवालोंके स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघातकी समानता प्राप्त हो जायगी ?

समाधान–– यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह बात तो हमें इष्ट ही है ।

शंका–– प्रथम-स्थितिकाण्डक और प्रथम-अनुभागकाण्डकोंकी समानताका नियम तो नहीं पाया जाता है, इसलिये उक्त कथन घटित नहीं होता है ?

१ तिकालगोयराणं सव्वेसिमणियट्टिकरणाणं समाणसमए वट्टमाणाणं सरिसपरिणामत्तादो पढमट्ठिदिखंडयं पि तेसिं सरिसमेवेत्ति णावहारेयव्वं किंतु तत्थ जहण्णुक्कस्सवियप्पसंभवादो । जयध. अ. प्र. १०७४. बादरपढमे पढमं ठिदिखंडं विसरिसं तु विदियादि । ठिदिखंडयं समाणं सव्वस्स समाणकालम्हि । पल्लस्स संखभागं अवरं तु वरं तु संखभागहियं । घादादिमट्ठिदिखंडो सेसा सव्वस्स सरिसा हु ।

ल. क्ष. ४१२, ४१३.

अणुभागाणं एय-पमाण-णियम-दंसणादो । ण च थोव-ट्ठिदि-अणुभाग-विरोहि-परिणामो तदो अब्भहिय-ट्ठिदि-अणुभागाणमविरोहित्तमल्लियइ[1], अण्णत्थ तह अदंसणादो । ण च अणियट्टिम्हि पदेस-बंधो एय-समयम्हि वट्टमाण-सव्व-जीवाणं सरिसो, तस्स जोग-कारणत्तादो । ण च तेसिं सव्वेसिं जोग[2]-सरिसत्तणे णियमो अत्थि लोगपूरणम्हि ट्ठिय-केवलीणं[3] व तहा पडिवायय-सुत्ताभावादो । तदो सरिस-परिणामत्तादो सव्वेसिमणियट्टीणं समाण-समय-संट्ठियाणं ट्ठिदि-अणुभाग-घाद-तब्बंधोसरण[4]-गुणसेढिणिज्जरा-संकमाणं सरिसत्तणं सिद्धं । समाण-समय-संठिय-सव्वाणियट्टीणं ट्ठिदि-[illegible]-ट्ठिदि-अणुभागेसु सरिसत्तणेण चिट्ठमाणेसु अप्पणो पसत्थापसत्थत्तणं पयडीसु अछंडमाणीसु[5] कथं पयडि-विणासस्स विवज्जासो ? तम्हा दोण्हं वयणाणं मज्झे एक्कमेव सुत्तं होदि, जदो 'जिणा ण अण्णहा-वाइणो' तदो ण तव्वयणाणं[6] विप्पडिसेहो इदि चे ? सच्चमेयं, किंतु ण तव्वयणाणि, एयाइं आइल्ल[7]-आइरिय-वयणाइं, तदो एयाणं विरोहस्सत्थि-

समाधान—— यह दोष कोई दोष नहीं है, क्योंकि, प्रथम समयमें घात करके शेष बचे हुए स्थितिकाण्डकोंका और अनुभागकाण्डकोंका एकप्रमाण नियम देखा जाता है । दूसरे, अल्प-स्थिति और अल्प-अनुभागका विरोधी परिणाम उससे अधिक स्थिति और अधिक अनुभागोंके अविरोधीपनेको प्राप्त नहीं हो सकता है, क्योंकि, अन्यत्र वैसा देखनेमें नहीं आता है । परंतु इस कथनसे अनिवृत्तिकरणके एक समयमें स्थित संपूर्ण जीवोंके प्रदेशबन्ध सदृश होता है ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये, क्योंकि, प्रदेशबन्ध योगके निमित्तसे होता है । परंतु अनिवृत्तिकरणके एक समयवर्ती उन सब जीवोंके योगकी सदृशताका कोई नियम नहीं पाया जाता है । जिस प्रकार लोकपूरण समुद्घातमें स्थित केवलियोंके योगकी समानताका प्रतिपादक परमागम है, उस प्रकार अनिवृत्तिकरणमें योगकी समानताका प्रतिपादक परमागमका अभाव है । इसलिये समान (एक) समयमें स्थित संपूर्ण अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाले जीवोंके सदृश परिणाम होनेके कारण स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, तथा उनका बन्धापसरण, गुणश्रेणीनिर्जरा और संक्रमणमें भी समानता सिद्ध हो जाती है ।

१ 'उपसर्पेरल्लिअः' हैम ८, ४, १३९.

२ मु. जोगस्स सरिसत्तणे ।

३ ल. क्ष. ६२६. लोगे पुण्णे एक्का वग्गणा जोगस्स त्ति समजोगो त्ति णायव्वो । लोगपूरणसमुग्घादे वट्टमाणस्सेदस्स केवलिणो लोगमेत्तासेसजीवदेसेसु जोगाविभागपलिच्छेदा वड्ढिहाणीहि विणा सरिसा चेय होदूण परिणमंति तेण सव्वे जीवपदेसा अण्णोण्णं सरिसधणियसरूवेण परिणदा संता एया वग्गणा जादा तदो समजोगो त्ति एसो तदवत्थाए णायव्वो । जोगसत्तीए सव्वजीवपदेसेसु सरिसभावं मोत्तूण विसरिस-भावाणुवलंभादो त्ति वुत्तं होइ । जयध. अ. पृ. १२३९.

४ मु. घादत्तबंधोसरण । ५ मु. अछड्डमाणेसु । ६ मु. तदो तव्वयणाणं । ७ मु. आइल्लु

संभवो इदि । आइल्लाइरिय[1]-कहियाणं संतकम्म-कसायपाहुडाणं कथं सुत्तत्तणमिदि चे? ण, तित्थयर-कहियत्थाणं गणहरदेव-कय-गंथरयणाणं बारहंगाणं आइरिय-परंपराए णिरंतरमागयाणं जुग-सहावेण बुद्धीसु ओहट्टंतीसु भायणाभावेण पुणो ओहट्टिय आगयाणं पुणो सुट्ठु-बुद्धीणं खयं दट्ठूण तित्थ-वोच्छेदभएण वज्ज-भीरुहि गिहिदत्थेहि आइरिएहि पोत्थएसु चडावियाणं असुत्तत्तण-विरोहादो । जदि एवं, तो एयाणं पि वयणाणं तदवयवत्तादो सुत्तत्तणं पावदि त्ति चे ? भवदु दोण्हं मज्झे एक्कस्स सुत्तत्तणं, ण दोण्हं पि, परोप्पर-विरोहादो । उस्सुत्तं लिहंता आइरिया कथं वज्ज-भीरुणो इदि चे ? ण एस दोसो, दोण्हं मज्झे एक्कस्सेव संगहे कीरमाणे वज्ज-

---

शंका-- इस तरह समान समयमें स्थित संपूर्ण अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवालोंके स्थितिखंड और अनुभागखंडोंके समानरूपसे पतित होने पर, घात करनेके पश्चात् शेष रहे हुए स्थिति और अनुभागोंके समानरूपसे विद्यमान रहने पर और प्रकृतियोंके अपना अपना प्रशस्त और अप्रशस्तपनाके नहीं छोड़ने पर व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियोंके विनाशमें विपर्यास कैसे हो सकता है ? अर्थात् किन्हीं जीवोंके पहले आठ कषायोंके नष्ट हो जाने पर सोलह प्रकृतियोंका नाश होता है, और किन्हीं जीवोंके पहले सोलह प्रकृतियोंसे नष्ट हो जाने पर पश्चात् आठ कषायोंका नाश होता है, यह बात कैसे संभव हो सकती है ? इसलिये दोनों प्रकारके वचनोंमेंसे कोई एक वचन ही सूत्ररूप हो सकता है, क्योंकि, जिन अन्यथावादी नहीं होते । अतः उनके वचनोंमें विरोध नहीं होना चाहिये ।

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समाधान-- यह कहना सत्य है कि उनके वचनोंमें विरोध नहीं होना चाहिये, परंतु ये जिनेन्द्रदेवके वचन न होकर इस युगके आचार्योंके वचन हैं, इसलिये उन वचनोंमें विरोध होना संभव है ।

शंका-- तो फिर इस युगके आचार्योंके द्वारा कहे गये सत्कर्मप्राभृत और कषायप्राभृतको सूत्रपना कैसे प्राप्त हो सकता है ?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, जिनका अर्थरूपसे तीर्थंकरोंने प्रतिपादन किया है, और गणधरदेवने जिनकी ग्रन्थ-रचना की ऐसे बारह अंग आचार्य-परंपरासे निरन्तर चले आ रहे हैं । परंतु कालके प्रभावसे उत्तरोत्तर बुद्धिके क्षीण होने पर और उन अंगोंको धारण करनेवाले योग्य पात्रके अभावमें वे उत्तरोत्तर क्षीण होते हुए आ रहे हैं । इसलिये जिन आचार्योंने आगे श्रेष्ठ बुद्धिवाले पुरुषोंका अभाव देखा और जो अत्यन्त पापभीरु थे और जिन्होंने गुरु परम्परासे श्रुतार्थ ग्रहण किया था उन आचार्योंने तीर्थविच्छेदके भयसे उस समय अविशिष्ट रहे हुए अंग-संबन्धी अर्थको पोथियोंमें लिपिबद्ध किया, अतएव उनमें असूत्रपना नहीं आ सकता है ।

---

१ मु. इदि आइरिय ।

भीरुत्तं फिट्टदि त्ति[1] ? दोण्हं पि संगहं करेंताणमाइरियाणं वज्ज-भीरुत्ताविणासादो । दोण्हं वयणाणं मज्झे कं वयणं सच्चमिदि चे ? सुदकेवली केवली वा जाणदि, ण अण्णो, तहा णिण्णयाभावादो । वट्टमाण-कालाइरिएहि वज्ज-भीरुहि दोण्हं पि संगहो कायव्वो, अण्णहा वज्जभीरुत्त-विणासादो त्ति ।

तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण चउसंजलण-णवणोकसायाणमंतरं करेदि । सोदयाण-मंतोमुहुत्त-मेत्तिं पढम-ट्ठिदिं अणुदयाणं समऊणावलिय-मेत्तिं पढम-ट्ठिदिं[2] करेदि । तदो अंतरकरणं काउण पुणो अंतोमुहुत्ते गदे णवुंसय-वेदं खवेदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूणित्थिवेदं खवेदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण छण्णोकसाए पुरिसवेद-चिराण-संत-

---

शंका— यदि ऐसा है तब दोनों ही [illegible] होनेसे सूत्रपना प्राप्त हो जायगा ?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समाधान— दोनोंमेंसे किसी एक वचनको सूत्रपना भले ही प्राप्त होओ, किंतु दोनोंको सूत्रपना नहीं प्राप्त हो सकता है, क्योंकि, उन दोनों वचनोंमें परस्पर विरोध पाया जाता है ।

शंका— उत्सूत्र लिखनेवाले आचार्य पापभीरु कैसे हो सकते हैं ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, दोनों प्रकारके वचनोंमेंसे किसी एक ही वचनके संग्रह करने पर पापभीरुता निकल जाती है, अर्थात् उच्छृंखलता आ जाती है । किन्तु दोनों प्रकारके वचनोंका संग्रह करनेवाले आचार्योंके पापभीरुता नष्ट नहीं होती है, अर्थात् बनी रहती है ।

शंका— दोनों प्रकारके वचनोंमेंसे किस वचनको सत्य माना जाय ?

समाधान— इस बातको केवली या श्रुतकेवली जानते हैं, दूसरा कोई नहीं जानता। क्योंकि, इस समय उसका निर्णय नहीं हो सकता है, इसलिये पापभीरु वर्तमानकालके आचार्योंको दोनोंका ही संग्रह करना चाहिये, अन्यथा पापभीरुताका विनाश हो जायगा ।

तत्पश्चात् आठ कषाय या सोलह प्रकृतियोंके नाश होनेपर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर चार संज्वलन और नौ नो-कषायोंका अन्तर करता है । अन्तरकरण करनेके पहले चार संज्वलन और नौ नो-कषायसंबन्धी तीन वेदोंमेंसे जिन दो प्रकृतियोंका उदय रहता है उनकी प्रथमस्थिति अन्त-र्मुहूर्तमात्र स्थापित करता है, और अनुदयरूप ग्यारह प्रकृतियोंकी प्रथमस्थिति एक समयकम आवलीमात्र स्थापित करता है । तत्पश्चात् अन्तरकरण करके एक अन्तर्मुहूर्त जाने पर

---

१ मु. णिवट्टत्ति ।

२ संजलणाणं एक्कं वेदाणेक्कं उदेदि तद्दोण्हं। सेसाणं पढमट्ठिदि ठवेदि अंतोमुहुत्तआवलियं । ल.क्ष.४३४.

कम्मेण सह सवेद-दुचरिम-समए जुगवं खवेदि । तदो [1]दो-आवलिय-मेत्त-कालं गंतूण पुरिसवेदं खवेदि । तदो अंतोमुहुत्तमुवरि गंतूण कोध-संजलणं खवेदि । तदो अंतोमुहुत्तमुवरि गंतूण माण-संजलणं खवेदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण माया-संजलणं खवेदि । तदो अंतोमुहुत्तं[2] गंतूण सुहुम-सांपराइय-गुणट्ठाणं पडिवज्जदि । सो वि सुहुम-सांपराइओ अप्पणो चरिमसमए लोभ-संजलणं खवेदि । तदो से काले खीण-कसाओ होदूण अंतोमुहुत्तं गमिय अप्पणो अद्धाए दु-चरिम-समए णिद्दा-पयलाओ दो वि अक्कमेण खवेदि । तदो से काले पंचणाणावरणीय-चदुदंसणावरणीय-पंचअंतराइयमिदि चोद्दसपयडीओ अप्पणो चरिम-समए खवेदि । एदेसु सट्ठि-कम्मेसु खीणेसु सजोगिजिणो होदि । सजोगिकेवली ण किंचि कम्मं खवेदि । तदो कमेण विहरिय जोग-णिरोहं-काऊण अजोगकेवली[3] होदि । सो वि अप्पणो दु-चरिम-समए

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नपुंसकवेदका क्षय करता है । तदनंतर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर स्त्रीवेदका क्षय करता है । फिर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर सवेद-भागके द्विचरम समयमें पुरुषवेदके पुरातन सत्तारूप कर्मोंके साथ छह नो-कषायका एकसाथ क्षय करता है । तदनंतर दो आवलीमात्र कालके व्यतीत होने पर पुरुषवेदका क्षय करता है । तत्पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर क्रोध-संज्वलनका क्षय करता है । इसके पीछे एक अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर मान संज्वलनका क्षय करता है । इसके पीछे एक अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर माया-संज्वलनका क्षय करता है । पुनः एक अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानको प्राप्त होता है । वह सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवाला जीव भी अपने गुणस्थानके अन्तिम समयमें लोभ-संज्वलनका क्षय करता है । उसके बाद तदनंतर समयमें क्षीणकषाय गुणस्थानको प्राप्त करके और अन्तर्मुहूर्त बिताकर अपने कालके द्विचरम समयमें निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियोंका एकसाथ क्षय करता है । इसके पीछे अपने कालके अन्तिम समयमें पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पांच अन्तराय इन चौदह प्रकृतियोंका क्षय करता है । इस तरह इन साठ कर्म-प्रकृतियोंका क्षय हो जानेपर यह जीव सयोगकेवली जिन होता है । सयोगी जिन किसी भी कर्मका क्षय नहीं करते हैं । इसके पीछे विहार करके और क्रमसे योगनिरोध करके वे अयोगिकेवली होते हैं । वे भी अपने कालके द्विचरम समयमें वेदनीयकी दोनों प्रकृतियोंमेंसे अनुदयरूप कोई एक, देवगति, पांच शरीर, पांच शरीरोंके संघात, पांच शरीरोंके बन्धन, छह संस्थान, तीन आंगोपांग, छह संहनन,

१ 'समऊण' इत्यधिकेन पाठेन भाव्यम् । समऊण दोण्णिआवलिपमाणसमयप्पबद्धणवबंधो ।
ल. क्ष. ४६१.

२ अणियट्टिगुणट्ठाणे मायारहिदं च ट्ठाणमिच्छंति । ट्ठाणा भंगपमाणा कोई एवं परूवेंति ॥
३ मु. अजोगिकेवली । गो. क. ३९२.

अणुदयवेदणीय-देवगदि-पंचसरीर-पंचसरीरसंघाद-पंचसरीरबंधण-छस्संठाण-तिण्णि-अंगोवंग-छस्संघडण-पंचवण्ण-दोगंध-पंचरस-अट्ठफास-देवगदिपाओग्गाणुपुव्वि-अगुरुव-लहुव-उवघाद-परघाद-उस्सास-दोविहायगदी-अप्पज्जत्त-पत्तेय-थिर-अथिर-सुभ-असुभ दूभग-सुस्सर-दुस्सर-अणादेज्ज-अजसगित्ति-णिमिण-णीचागोदाणि त्ति एदाओ बाहत्तरि पयडीओ खवेदि। तदो से काले सोदय-वेदणीय-मणुसाउ-मणुसगइ-पंचिंदिय-जादि-मणुसगइपाओग्गाणुपुव्वी-तस-बादर-पज्जत्त-सुभग-आदेज्ज-जसगित्ति-तित्थयर-उच्चागोदाणि त्ति एदाओ तेरस पयडीओ खवेदि, अहवा मणुसगइपाओग्गाणुपुव्वीए सह तेहत्तरि पयडीओ दुचरिम-समए णट्ठाओ बारह चरिमसमए[1], उप्पायाणुच्छे-दादो[2]। तदो उवरिम-समए णीरओ णिम्मलो सिद्धो होदि। तत्थ जे कम्म-क्खवणम्हि वावदा ते जीवा खवगा उच्चंति। जे पुण तेसिं चेव उवसामणम्हि

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस, आठ स्पर्श, देवगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त-विहायोगति, अप्रशस्त-विहायोगति, अपर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति, निर्माण और नीच-गोत्र, इन बहत्तर प्रकृतियोंका क्षय करते हैं। इसके बाद तदनन्तर समयमें दोनों वेदनीयमेंसे उदयागत कोई एक वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशस्कीर्ति, तीर्थंकर और उच्च-गोत्र, इन तेरह प्रकृतियोंका क्षय करते हैं। अथवा, मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्वीके साथ अयोगि-केवलीके द्विचरम समयमें तेहत्तर प्रकृतियोंका और चरम समयमें बारह प्रकृतियोंका क्षय करते हैं। यह क्षपणाका कथन उत्पाद अर्थात् भाव ही अनुच्छेद अर्थात् अभाव है इसप्रकार द्रव्यार्थिकनयरूप व्यवहारकी मुख्यतासे किया है।

---

१ बाहत्तरि पयडीओ दुचरिमगे तेरस च चरिमम्हि ल. क्ष. ३४४. × × द्विसप्ततिः कर्माणि स्वरूपसत्तामधिकृत्य क्षयमुपगच्छन्ति, चरमसमये स्तिबुकसंक्रमेणोदयवतीसु मध्ये संक्रम्यमाणत्वात्। चरमसमये चान्यतरवेदनीयमनुष्यत्रिकपंचेन्द्रियजातित्रससुभगादेययशःकीर्तिपर्याप्तबादरतीर्थंकरोच्चैर्गोत्ररूपाणां त्रयोदश-प्रकृतीनां सत्ताव्यवच्छेदः। अन्ये त्वाहुः– 'मनुष्यानुपूर्व्या द्विचरमसमये व्यवच्छेद उदयाभावात्, उदयवतीनां हि स्तिबुकसंक्रमाभावात् स्वरूपेण चरमसमये दलिकं दृश्यत एवेति युक्तास्तासां चरमसमये सत्ताव्यवच्छेदः। आनुपूर्वीणां च चतसृणामपि क्षेत्रविपाकतयाऽन्तरालगतावेवोदय इति न भवस्थस्य तदुदयसंभवः इत्ययोग्य-वस्थाद्विचरमसमय एव मनुष्यानुपूर्व्याः सत्ताव्ययच्छेदः'। तन्मते द्विचरमसमये त्रिसप्ततेः, चरमसमये च द्वादशानां सत्ताव्यवच्छेदः। क. प्र. य. उ. टी. पृ. ६४. × × त्रयोदशैताः प्रकृतीः क्षपयित्वान्तिमे क्षणे। अयोगिकेवली सिद्धचेन्निर्मूलगतकल्मषः॥ मतान्तरेऽत्रानुपूर्वी क्षिपत्युपान्तिमक्षणे। ततस्त्रिसप्ततिं तत्र द्वादशान्त्ये क्षणे क्षिपेत्॥ लो. प्र. १, १२७५, १२७६.

२ वोच्छेदो दुविहो उप्पादाणुच्छेदो अणुप्पादाणुच्छेदो चेदि। उत्पादः सत्त्वं, अनुच्छेदो विनाशः अभावः निरूपित इति यावत्। उत्पाद एव अनुच्छेदः उत्पादानुच्छेदः भाव एव अभाव इति यावत्। एसो दव्वट्ठियणयव्यवहारो। अनुत्पादः असत्त्वं, अनुच्छेदो विनाशः। अनुत्पाद एव अनुच्छेदः असतः अभाव इति यावत्। सतः असत्त्वविरोधात्। एसो पज्जवट्ठियणयव्यवहारो। धवला अ. पृ. ५७७.

वावदा ते उवसामगा ।

गदि-मग्गणावयव-देवगदिम्हि गुण-मग्गणट्ठं सुत्तमाह—

देवा चदुसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति ॥ २८ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

देवाश्चतुर्षु स्थानेषु सन्ति । कानि तानीति चेन्मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिः असंयतसम्यग्दृष्टिश्चेति । प्रागुक्तार्थत्वान्नैतेषां गुणस्थानानामिह स्वरूपमुच्यते ।

तदनन्तर आगेके समयमें कर्मरजसे रहित निर्मलदशाको प्राप्त सिद्ध हो जाते हैं । इनमेंसे जो जीव कर्म-क्षपणमें व्यापार करते हैं उन्हें क्षपक कहते हैं और जो जीव कर्मोंके उपशमन करनेमें व्यापार करते हैं उन्हें उपशामक कहते हैं ।

विशेषार्थ— चौदहवें गुणस्थानमें अधिकसे अधिक पचासी प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है । उनमेंसे बहत्तर प्रकृतियोंका उपान्त्य समयमें और उदयागत बारह तथा मनुष्यगत्यानुपूर्वी इसप्रकार तेरह प्रकृतियोंका अन्त समयमें क्षय होता है । सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, गोमट्टसार आदि ग्रन्थोंमें इसी एक मतका उल्लेख मिलता है । किंतु यहां मनुष्यगत्यानुपूर्वीका उपान्त्य समयमें भी क्षय बतलाया गया है, जिसका उल्लेख कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थोंमें भी मिलता है । तथा उसकी पुष्टिके लिये इसप्रकार समर्थन भी किया गया है कि अनुदयप्राप्त प्रकृतियोंका स्तिवुकसंक्रमणके द्वारा उदयागत बारह प्रकृतियोंमें ही उपान्त्य समयमें संक्रमण हो जाता है । अतः मनुष्यगत्यानुपूर्वीका भी उपान्त्य समयमें ही सत्त्वनाश हो जाता है, क्योंकि, मनुष्यगत्यानुपूर्वीका उदय केवल विग्रहगतिके गुणस्थानोंमें ही होता है, शेषमें नहीं । इसप्रकार दूसरे आचार्योंके मतानुसार उपान्त्य समयमें मनुष्यगत्यानुपूर्वी-सहित तेहत्तर और अन्त समयमें बारह प्रकृतियोंका सत्त्व नाश होता है ।

अब गतिमार्गणाके अवयवरूप देवगतिमें गुणस्थानोंके अन्वेषण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि, इन चार गुणस्थानोंमें देव पाये जाते हैं ॥ २८ ॥

देव चार गुणस्थानोंमें पाये जाते हैं ।

शंका— वे चार गुणस्थान कौनसे हैं ?

समाधान— मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि, इसप्रकार देवोंके चार गुणस्थान होते हैं ।

---

१ देवगतौ नारकवत् । स. सि. १, ८.

अथ स्याद्यासु याभिर्वा जीवाः मृग्यन्ते ताः मार्गणा इति प्राङ्ग मार्गणाशब्दस्य निरुक्तिरुक्ता, आर्षे चेयत्सु गुणस्थानेषु नारकाः सन्ति, तिर्यञ्चः सन्ति, मनुष्याः सन्ति, देवाः सन्तीति गुणस्थानेषु मार्गणा अन्विष्यन्ते,[1] अतस्तद्व्याख्यानमार्षविरुद्धमिति ? नैष दोषः, 'णिरय-गईए णेरईएसु मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया[2]' इत्यादि-भगवद्-भूतबलिभट्टारकमुखकमलविनिर्गतगुणसंख्यादिप्रतिपादकसूत्राश्रयेण तन्निरुक्ते-रवतारात्। कथमनयोर्भूतबलिपुष्पदन्तवाक्ययोर्न विरोध इति चेन्न विरोधः। कथमिदं तावत् ? निरूप्यते। न तावदसिद्धेन असिद्धे वासिद्धस्यान्वेषणं सम्भवति, विरोधात्। नापि सिद्धे सिद्धस्यान्वेषणम्, तत्र तस्यान्वेषणे फलाभावात्। ततः सामान्याकारेण सिद्धानां जीवानां गुणसत्त्वद्रव्यसंख्यादिविशेषरूपेणासिद्धानां त्रिकोटिपरिणामात्मका-नादिबन्धनबद्धज्ञानदर्शनलक्षणात्मास्तित्वान्यथानुपपत्तितः सामान्याकारेणावगतानां गत्यादीनां मार्गणानां च विशेषतोऽनवगतानामिच्छातः आधाराधेयभावो भवतीति नोभयवाक्ययोर्विरोधः।

इन गुणस्थानोंका स्वरूप पहले कह आये हैं, इसलिये यहां पर उनका स्वरूप पुनः नहीं कहते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका— जिनमें अथवा जिनके द्वारा जीवोंका अन्वेषण किया जाता है उन्हें मार्गणा कहते हैं। इस प्रकार पहले मार्गणा शब्दकी निरुक्ति कह आये हैं। और आर्षमें तो इतने गुण-स्थानोंमें नारकी होते हैं, इतनेमें तिर्यंच होते हैं, इतनेमें मनुष्य होते हैं और इतनेमें देव होते हैं, इस प्रकार गुणस्थानोंमें मार्गणाओंका अन्वेषण किया जा रहा है। इसलिये उक्त प्रकारसे मार्गणाकी निरुक्ति करना आर्षविरुद्ध है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, 'नरकगतिमें नारकियोंमें मिथ्यादृष्टि द्रव्यप्रमाणसे कितने हैं', इत्यादि रूपसे भगवान् भूतबलि भट्टारकके मुख-कमलसे निकले हुए गुणस्थानोंका अवलम्बन लेकर संख्या आदिके प्रतिपादक सूत्रोंके आश्रयसे उक्त निरुक्तिका अवतार हुआ है।

शंका— तो भूतबलि और पुष्पदन्तके इन वचनोंमें विरोध क्यों न माना जाय ?

समाधान— उनके वचनोंमें विरोध नहीं है। यदि पूछो किस प्रकार ? तो आगे इसी बातका निरूपण करते हैं। असिद्धके द्वारा अथवा असिद्धमें असिद्धका अन्वेषण करना तो संभव नहीं है, क्योंकि, इसतरह अन्वेषण करनेमें तो विरोध आता है। उसीप्रकार सिद्धमें सिद्धका अन्वेषण करना भी उचित नहीं है, क्योंकि, सिद्धमें सिद्धका अन्वेषण करने पर कोई फल नहीं है। इसलिये स्वरूप-सामान्यकी अपेक्षासे सिद्ध, किन्तु गुण-सत्व अर्थात् गुणस्थान, द्रव्यसंख्या आदि विशेषरूपसे असिद्ध

---

१ मु. स्थानेषु अन्विष्यन्ते।

२ जी. द. सू. १२.

अतीतसूत्रोक्तार्थविशेषप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रचतुष्टयमाह—

तिरिक्खा सुद्धा एइंदियप्पहुडि जाव असण्णि-पंचिंदिया त्ति ॥ २९ ॥

एकमिन्द्रियं येषां त एकेन्द्रियाः । प्रभृतिरादिः, एकेन्द्रियान् प्रभृति कृत्वा, अध्याहृतेन कृत्वेत्यनेनाभिसम्बन्धादस्य नपुंसकता । असंज्ञिनश्च ते पञ्चेन्द्रियाश्च असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः । यत्परिमाणमस्येति यावत् । यावदसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः शुद्धास्तिर्यञ्चः । किमित्येतदुच्यत इति चेन्न, अन्यथाशुद्धाणां तावेकेन्द्रियादयोऽसंज्ञि-मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज पञ्चेन्द्रियपर्यन्ताः वर्तन्त इत्यवगमोपायाभावतस्तदवजिगमयिषायै एतत्प्रतिपादनात् ।

असाधारणतिरश्चः प्रतिपाद्य साधारणतिरश्चां प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

....

जीवोंका तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप त्रिकोटिसे परिणमनशील अनादि-कालीन बन्धनसे बंधे हुए, तथा ज्ञान और दर्शन लक्षण स्वरूप आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि अन्यथा हो नहीं सकती है, इसलिये सामान्यरूपसे जानी गई और विशेषरूपसे नहीं जानी गई ऐसी गति आदि मार्गणाओंका इच्छासे आधार-आधेयभाव बन जाता है । अर्थात् जब गुणस्थान विवक्षित होते हैं तब वे आधार-भावको प्राप्त हो जाते हैं और मार्गणाएं आधेयपनेको प्राप्त होती हैं । उसीप्रकार जब मार्गणाएं विवक्षित होती हैं तब वे आधारभावको प्राप्त हो जाती हैं और गुणस्थान आधेय-पनेको प्राप्त होते हैं । इसलिये भूतबलि और पुष्पदन्त आचार्योंके वचनोंमें कोई विरोध नहीं समझना चाहिये ।

विशेषार्थ— यहां पर आचार्य पुष्पदन्तने गुणस्थानोंको आधार बनाकर मार्गणाओंका प्रतिपादन किया है तथा आचार्य भूतबलिने आगे मार्गणाओंको आधार बनाकर गुणस्थानोंका प्रतिपादन किया है । अतः दोनोंके कथनमें कोई विरोध नहीं है ।

अब पूर्व सूत्रोंमें कहे गये अर्थके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये आगेके चार सूत्र कहते हैं—

एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तकके जीव शुद्ध तिर्यंच हैं ॥ २९ ॥

जिनके एक ही इन्द्रिय होती है उन्हें एकेन्द्रिय कहते हैं । प्रभृतिका अर्थ आदि है । 'एकेन्द्रियको आदि करके' इस प्रकारके अर्थमें, अध्याहृत 'कृत्वा' इस पदके साथ 'एकेन्द्रिय-प्रभृति' इस पदका संबन्ध होनेसे इस पदको नपुंसक-लिंग कहा है । जो असंज्ञी होते हुए पंचेन्द्रिय होते हैं उन्हें असंज्ञी-पंचेन्द्रिय कहते हैं । जिसका जितना परिमाण होता है, उसके उस परिमाणको प्रगट करनेके लिये 'यावत्' शब्दका प्रयोग होता है । इसप्रकार असंज्ञी पंचेन्द्रिय तकके जीव शुद्ध तिर्यंच होते हैं ।

शंका— इस प्रकारका सूत्र क्यों कहा ?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तिरिक्खा मिस्सा सण्णि-मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव संजदा-संजदा त्ति ॥ ३० ॥

संज्ञिमिथ्यादृष्टिप्रभृति यावत्संयतासंयतास्तावत्तिर्यञ्चो मिश्राः। न तिरश्चामन्यैः सह मिश्रणमवगम्यते। कथं ? न तावत्संयोगोऽस्यार्थः, तस्योपरितन-गुणेष्वपि सत्त्वात्। नैकत्वापत्तिरर्थः, द्वयोरेकस्याभावतो द्वित्वादिनिबन्धनमिश्रता-नुपपत्तेरिति ? न प्रथमविकल्पः, अनभ्युपगमात्। न द्वितीयविकल्पोक्तदोषोऽपि, गुणकृतसादृश्यमाश्रित्य तिरश्चां मनुष्यगतिजीवैर्मिश्रभावाभ्युपगमात्। तद्यथा-मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टचसंयतसम्यग्दृष्टिगुणैर्गतित्रयगतजीव-साम्यात्तैस्ते मिश्राः, संयमासंयमगुणेन मनुष्यैः सह साम्यात्तिर्यञ्चो मनुष्यैः सहैकत्व-

---

समाधान— नहीं, क्योंकि, यदि उक्त सूत्र नहीं कहते तो 'इस (तिर्यंच) गतिमें ही एकेन्द्रियको आदि लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रियतकके जीव होते हैं' इस बातके जाननेके लिये कोई दूसरा उपाय नहीं था। अतः उक्त बातको जतानेके लिये ही उक्त सूत्रका प्रतिपादन किया गया है।

असाधारण (शुद्ध) तिर्यंचोंका प्रतिपादन कर अब साधारण (मिश्र) तिर्यंचोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

संज्ञी-पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयतासंयत-गुणस्थानतक तिर्यंच मिश्र होते हैं ॥३०॥

संज्ञी-मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयतासंयत तक तिर्यंच मिश्र हैं।

शंका--- तिर्यंचोंका किसी भी गतिवाले जीवोंके साथ मिश्रण समझमें नहीं आता, क्योंकि, इस मिश्रणका अर्थ संयोग तो हो नहीं सकता है ? यदि मिश्रणका अर्थ अन्य गतिवाले जीवोंके साथ संयोग ही लिया जाय, तो ऐसा संयोग तो छटवें आदि ऊपरके गुणस्थानोंमें भी पाया जाता है। और दो वस्तुओंका एकरूप हो जाना भी इस मिश्रणका अर्थ नहीं हो सकता है ? यदि मिश्रणका अर्थ दो वस्तुओंका एकरूप हो जाना ही माना जाय, तो जब भिन्न भिन्न सत्तावाले दो पदार्थ एकरूप होंगे, तब दोमेंसे किसी एकका अभाव हो जानेसे द्वित्वादिके निमित्तसे पैदा होनेवाली मिश्रता नहीं बन सकती है ?

समाधान— प्रथम विकल्पसंबन्धी दोष तो यहां पर लागू हो नहीं सकता, क्योंकि, यहां पर मिश्र शब्दका अर्थ दो पदार्थोंके संयोगरूप स्वीकार नहीं किया हैं। उसीतरह दूसरे विकल्पमें दिया गया दोष भी यहां पर लागू नहीं होता है, क्योंकि, यहां पर गुणकृत समानताकी अपेक्षा तिर्यंचोंका मनुष्यगतिके जीवोंके साथ मिश्रभाव स्वीकार किया है। आगे इसीको स्पष्ट करते हैं--

मापन्ना इति ततो न दोषः । स्यान्मतं, गतिनिरूपणायामियन्तो गुणाः अस्यां गतौ सन्ति न सन्तीति निरूपणाया[२] एव अवसीयते, अस्याः गत्याः अनया गत्या सह गुणद्वारेण योगोऽस्ति नास्तीति, ततः पुनरिदं निरूपणमनर्थकमिति ? न, तस्य दुर्मेधसामपि स्पष्टीकरणार्थत्वात् । 'प्रतिपाद्यस्य बुभुत्सितार्थविषयनिर्णयोत्पादनं वक्तृवचसः फलम्' इति न्यायात् । अथवा न तिरश्चां मिथ्यात्वादिर्मनुष्यादि-मिथ्यात्वादिभिः समानः, तिर्यङ्मनुष्यादिव्यतिरिक्तमिथ्यात्वादेरभावात् । नापि तिर्यगादीनामेकत्वम्, चतुर्गतेरभावप्रसङ्गात् । न चाभावः, मनुष्येभ्यो व्यतिरिक्त-तिरश्चामुपलम्भादिति पर्यायनयैकान्तावष्टम्भनबलेन केचिद् विप्रतिपन्नाः । न मिथ्यात्वादयः पर्यायाः जीवद्रव्याद्भिन्नाः, कोषादसेरिव तेषां तस्मात्पृथगनुपलम्भादस्येमे

तिर्यंचोंकी मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, और असंयतसम्यग्दृष्टि-रूप गुणोंकी अपेक्षा तो तीन गतिमें रहनेवाले जीवोंके साथ समानता है, इसलिये तीन गति-वाले जीवोंके साथ तिर्यंच जीव चौथे गुणस्थानतक मिश्र कहलाते हैं । और संयमासंयम गुणकी अपेक्षा तिर्यंचोंकी मनुष्योंके साथ समानता होनेसे तिर्यंच मनुष्योंके साथ एकत्वको प्राप्त हुए है । इसलिये पांचवें गुणस्थानतक मनुष्योंके साथ तिर्यंचोंको मिश्र कहनेमें पूर्वोक्त दोष नहीं आता है।

शंका— गति-मार्गणाकी प्ररूपणा करने पर 'इस गतिमें इतने गुणस्थान होते हैं, और इतने नहीं' इसप्रकारके निरूपण करनेसे ही यह जाना जाता है कि इस गतिकी इस गतिके साथ गुणस्थानोंकी अपेक्षा समानता है, इसकी इसके साथ नहीं । इसलिये फिरसे इसका कथन करना निष्फल है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अल्पबुद्धिवाले शिष्योंको भी विषयका स्पष्टीकरण हो जावे, इसलिये इस कथनका यहां पर निरूपण किया है, क्योंकि, शिष्यको जिज्ञासित-अर्थ संबन्धी निर्णय उत्पन्न करा देना ही वक्ताके वचनोंका फल है, ऐसा न्याय है ।

अथवा, तिर्यंचोंके मिथ्यात्वादि भाव मनुष्यादि तीन गतिसंबन्धी जीवोंके मिथ्यात्वादि भावोंके समान नहीं हैं, क्योंकि, तिर्यंच और मनुष्यादिकको छोड़कर मिथ्यात्वादि भावोंका स्वतन्त्र सद्भाव नहीं पाया जाता है । इसलिये जब कि तिर्यंचादिकोंमें परस्पर भेद है, तो तदाश्रित भावोंमें भी भेद होना संभव है । यदि कहा जाय कि तिर्यंचादिकोंमें परस्पर एकता अर्थात् अभेद है, सो भी कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि, तिर्यंचादिकोंमें परस्पर अभेद माननेपर चारों गतियोंके अभावका प्रसंग आ जायगा । परंतु चारों गतियोंका अभाव माना नहीं जा सकता क्योंकि, मनुष्योंसे अतिरिक्त तिर्यंचोंकी उपलब्धि होती है । इसप्रकार पर्यायार्थिकनयको ही एकान्तसे आश्रय करके कितने ही लोग विवादग्रस्त हैं । इसीप्रकार मिथ्यात्वादि पर्यायें जीवद्रव्यसे भिन्न नहीं हैं, क्योंकि, जिसप्रकार तरवार म्यानसे भिन्न

२ मु. निरूपणयैवमवसीयतेऽस्याः ।

इति सम्बन्धानुपपत्तेश्च । ततस्तस्मात्तेषामभेदः । तथा च न गतिभेदो नापि गुणभेदः इति द्रव्यनयैकान्तावष्टम्भनबलेन केचिद्विप्रतिपन्नास्तदभिप्रायकदर्थनार्थं वास्य सूत्रस्यावतारः । नाभिप्रायद्वयं घटते, तथाप्रतिभासनात् । न च प्रमाणाननुसार्यभिप्रायः साधुः, अव्यवस्थापत्तेः । न च जीवाद्वैते द्वैते वा प्रमाणमस्ति, कृत्स्नस्यैकत्वाद्देशादेरिव सत्तातोऽप्यन्यतो भेदात् । न प्रमेयस्यापि सत्त्वम्, अपेक्षितप्रमाणव्यापारस्य तस्य प्रमाणाभावे सत्त्वायोगात् । प्रमाणं वस्तुनो न कारकमतो न तद्विनाशाद्वस्तुविनाश इति चेन्न, प्रमाणाभावे वचनाभावतः सकलव्यवहारोच्छित्तिप्रसङ्गात् । अस्तु

उपलब्ध होती है, उसप्रकार मिथ्यात्वादिककी जीवद्रव्यसे पृथक् उपलब्धि नहीं होती है । और यदि भिन्न मान ली जावें तो ये मिथ्यात्वादिक पर्यायें इस जीव-द्रव्यकी हैं, इसप्रकार संबन्ध नहीं बनता है । इसलिये इन मिथ्यात्वादिक पर्यायोंका जीव-द्रव्यसे अभेद हैं । इस प्रकार जब मिथ्यात्वादिक पर्यायोंका जीवसे भेद सिद्ध नहीं होता है, तो गतियोंका भेद भी सिद्ध नहीं हो सकता है और न गुणस्थानोंका भेद ही सिद्ध होता है । इसप्रकार केवल द्रव्यार्थिक नयको ही एकान्तसे आश्रय करके कितने ही लोग विवादमें पड़े हुए हैं । इसलिये इन दोनों एकान्तियोंके अभिप्रायके खण्डन करनेके लिये तिरिक्खा मिस्सा ' इत्यादि प्रकृत सूत्रका अवतार हुआ है । उक्त दोनों प्रकारके एकान्तरूप अभिप्राय घटित नहीं होते हैं, क्योंकि, सर्वथा एकान्तरूपसे वस्तुस्वरूपकी प्रतीति नहीं होती है । और प्रमाणसे प्रतिकूल अभिप्राय ठीक नहीं माना जा सकता, अन्यथा सब जगह अव्यवस्था प्राप्त हो जावेगी । तथा जीवाद्वैत (जीव और मनुष्यादि पर्यायके सर्वथा अभेद), या जीव-द्वैत (जीव और मनुष्यादि पर्यायके सर्वथा भेद) के माननेमें कोई प्रमाण नहीं है । यदि जीव-अद्वैतवादको प्रमाण मानते हैं तो नरक तिर्यंच आदि सभी पर्यायोंको एकताकी आपत्ति आ जाती है । और यदि जीव-द्वैतवादको प्रमाण मानते हैं तो देशभेद आदिकी तरह सत्तासे वस्तुका भेद मान लेने पर वस्तुका सत्तासे भी भेद सिद्ध हो जाता है । इसप्रकार द्वैतवाद या अद्वैतवादमें प्रमाण नहीं मिलनेसे प्रमेयका भी सत्त्व सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि, प्रमाणके व्यापारकी अपेक्षा रखनेवाले प्रमेयका प्रमाणके अभावमें सद्भाव नहीं बन सकता है ।

शंका—प्रमाण वस्तुका कारक (उत्पादक) नहीं है, इसलिये प्रमाणके विनाशसे वस्तुका विनाश नहीं माना जा सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, प्रमाणके अभाव होनेपर वचनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती हैं, और उसके विना संपूर्ण लोकव्यवहारके विनाशका प्रसंग आता है ।

शंका—यदि लोकव्यवहार विनाशको प्राप्त होता है, तो हो जाओ ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर वस्तु-विषयक विधि-प्रतिषेधका भी अभाव प्राप्त हो जायगा ।

चेन्न, वस्तुविषयविधिप्रतिषेधयोरप्यभावासञ्जनात् । अस्तु चेन्न, तथानुपलम्भात् । ततो विधिप्रतिषेधात्मकं वस्त्वित्यङ्गीकर्तव्यम्, अन्यथोक्तदोषानुषङ्गात् । ततः सिद्धं गुणद्वारेण जीवानां सादृश्यं विशेषरूपेणासादृश्यमिति । गुणस्थानमार्गणासु जीवसमासान्वे[illegible]

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इदानीं मनुष्याणां गुणद्वारेण सादृश्यासादृश्यप्रतिपादनार्थमाह—

मणुस्सा मिस्सा मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति ॥३१॥

आदितश्चतुर्षु गुणस्थानेषु ये मनुष्यास्ते मिथ्यात्वादिभिश्चतुर्भिर्गुणैस्त्रिगतिजीवैः समानाः, संयमासंयमेन तिर्यग्भिः ।

तेण परं सुद्धा मणुस्सा ॥ ३२ ॥

शेषगुणानां मनुष्यगतिव्यतिरिक्तगतिष्वसम्भवाच्छेषगुणा मनुष्येष्वेव सम्भवन्ति, उपरितनगुणैर्मनुष्याः न कैश्चित्समाना इति यावत् । देवनरकगत्योः

शंका— यह भी हो जाओ ?

समाधान— ऐसा भी नहीं है, क्योंकि, वस्तुका विधि-प्रतिषेधरूप व्यवहार देखा जाता है । इसलिये विधि-प्रतिषेधात्मक वस्तु स्वीकार कर लेना चाहिये । अन्यथा पूर्वमें कहे हुए संपूर्ण दोष प्राप्त हो जावेंगे । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि गुणोंकी मुख्यतासे जीवोंके परस्पर समानता है, और विशेष (गुणभेद) की मुख्यतासे परस्पर भिन्नता है ।

अथवा, गुणस्थानों और मार्गणाओंमें जीवसमासोंके अन्वेषण करनेके लिये यह सूत्र रचा गया है ।

अब मनुष्योंकी गुणस्थानोंके द्वारा समानता और असमानताके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादृष्टियोंसे लेकर संयतासंयततकके मनुष्य मिश्र हैं ॥ ३१ ॥

प्रथम गुणस्थानसे लेकर चार गुणस्थानोंमें जितने मनुष्य हैं वे मिथ्यात्वादि चार गुणस्थानोंकी अपेक्षा तीन गतिके जीवोंके साथ समान हैं और संयमासंयमगुणस्थानकी अपेक्षा तिर्यंचोंके साथ समान हैं ।

पांचवें गुणस्थानसे आगे शुद्ध (केवल) मनुष्य हैं ॥ ३२ ॥

प्रारम्भके पांच गुणस्थानोंको छोडकर शेष गुणस्थान मनुष्यगतिके विना अन्य तीन गतियोंमें नहीं पाये जाते हैं, इसलिये शेष गुणस्थान मनुष्योंमें ही संभव हैं । अतः छटवें आदि ऊपरके गुणस्थानोंकी अपेक्षा मनुष्य अन्य तीन गतिके किन्हीं जीवोंके साथ समानता नहीं रखते हैं । यह इस सूत्रका तात्पर्य समझना चाहिये ।

सादृश्यमसादृश्यं वा किमिति नोक्तमिति चेन्न, आभ्यामेव प्ररूपणाभ्यां मन्दमेधसामपि तदवगमोत्पत्तेरिति ।

इन्द्रियमार्गणायां गुणस्थानान्वेषणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

इंदियाणुवादेण अत्थि एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिंदिया पंचिंदिया अणिंदिया चेदि ॥ ३३ ॥

इन्दनादिन्द्रः आत्मा, तस्येन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम् । इन्द्रेण सृष्टमिति वा इन्द्रियम्[1] । तद् द्विविधम्, द्रव्येन्द्रियं[2] भावेन्द्रियं[3] चेति । निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्,[4] निर्वर्त्यत इति निर्वृत्तिः, कर्मणा या निर्वर्त्यते निष्पाद्यते सा निर्वृत्तिरित्यपदिश्यते[5] ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका— देव और नरकगतिके जीवोंकी अन्य गतिके जीवोंके साथ समानता और असमानताका कथन क्यों नहीं किया ?

समाधान— अलग कथन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि, तिर्यंच और मनुष्यसंबन्धी प्ररूपणाओंके द्वारा ही मन्दबुद्धि जनोंको भी देव और नारकियोंकी दूसरी गतिवाले जीवोंके साथ सदृशता और असदृशताका ज्ञान हो जाता है ।

अब इन्द्रियमार्गणामें गुणस्थानोंके अन्वेषणके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

इन्द्रियमार्गणाकी अपेक्षा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय जीव हैं ॥ ३३ ॥

इन्दन अर्थात् ऐश्वर्यशाली होनेसे यहां इन्द्र शब्दका अर्थ आत्मा है, और उस इन्द्रके लिंग (चिन्ह) को इन्द्रिय कहते हैं । अथवा जो इन्द्र अर्थात् नामकर्मसे रची जावे उसे इन्द्रिय कहते है । वह इन्द्रिय दो प्रकारकी है–द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय । निर्वृत्ति और उपकरणको द्रव्येन्द्रिय कहते हैं । जो निर्वृत्त होती है अर्थात् कर्मके द्वारा रची जाती है उसे निर्वृत्ति कहते हैं । बाह्य-निर्वृत्ति और आभ्यन्तर-निर्वृत्तिके भेदसे वह निर्वृत्ति दो प्रकारकी है । उनमें, प्रतिनियत चक्षु आदि इन्द्रियोंके आकाररूपसे परिणत हुए लोकप्रमाण अथवा उत्सेधांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण विशुद्ध आत्मप्रदेशोंकी रचनाको आभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते हैं ।

१ इन्दतीति इन्द्र आत्मा, तस्य ज्ञस्वभावस्य तदावरणक्षयोपशमे सति स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्य यदर्थोपलब्धिनिमित्तं लिंगं तदिन्द्रस्य लिंगमिन्द्रियमित्युच्यते । अथवा लीनमर्थं गमयतीति लिंगम् । आत्मनः सूक्ष्मस्यास्तित्वाधिगमे लिंगमिन्द्रियम् । अथवा 'इन्द्र' इति नामकर्मोच्यते, तेन सृष्टमिन्द्रियमिति । स. सि. १, १४.

२ जातिनामकर्मोदयसहकारि देहनामकर्मोदयजनितं निर्वृत्त्युपकरणरूपं देहचिन्हं द्रव्येन्द्रियम् । गो. जी., जी. प्र., टी. १६५.

३ भावः चित्परिणामः, तदात्मकमिन्द्रियं भावेन्द्रियम् । गो. जी., जी. प्र., टी. १६५.

४ त. सू. २, १७. ५ मु. रित्युपदिश्यते । त. रा. वा. पृ. ९०

सा निर्वृत्तिर्द्विविधा बाह्याभ्यन्तरभेदात् । तत्र लोकप्रमितानां विशुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनावस्थितानामुत्सेधाङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमितानां वा वृत्तिरभ्यन्तरा निर्वृत्तिः[1] ।

आह, चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां क्षयोपशमो हि नाम स्पर्शनेन्द्रियस्येव किमु सर्वात्मप्रदेशेषु जायते, उत प्रतिनियतेष्विति ? किं चातः ? सर्वात्मप्रदेशेषु, स्वसर्वावयवैः रूपाद्युपलब्धिप्रसङ्गात् । अस्तु चेन्न, तथानुपलम्भात् । न प्रतिनियतात्मावयवेषु वृत्तिः,[2] ' सिया ट्ठिया, सिया अट्ठिया, सिया ट्ठियाट्ठिया'[3] ' इति वेदनासूत्रतोऽवगतभ्रमणेषु जीवप्रदेशेषु प्रचलत्सु सर्वजीवानामान्ध्यप्रसङ्गादिति । नैष दोषः,

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका—– जिस प्रकार स्पर्शन-इन्द्रियका क्षयोपशम संपूर्ण आत्मप्रदेशोंमें उत्पन्न होता है, उसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियोंका क्षयोपशम क्या संपूर्ण आत्मप्रदेशोंमें उत्पन्न होता है, या प्रतिनियत आत्मप्रदेशोंमें ? आत्माके संपूर्ण प्रदेशोंमें क्षयोपशम होता है, यह तो माना नहीं जा सकता है, क्योंकि, ऐसा माननें पर आत्माके संपूर्ण अवयवोंसे रूपादिकको उपलब्धिका प्रसंग आ जायगा। यदि कहा जाय, कि संपूर्ण अवयवोंसे रूपादिककी उपलब्धि होती ही है, सो यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, सर्वांगसे रूपादिका ज्ञान होता हुआ पाया नहीं जाता । इसलिये सर्वांगमें तो क्षयोपशम माना नहीं जा सकता है । और यदि आत्माके प्रतिनियत अवयवोंमें चक्षु आदि इन्द्रियोंकी वृत्ति मानी जाय, सो भी कहना नहीं बनता है, क्योंकि, ऐसा मान लेने पर ' आत्मप्रदेश चल भी हैं, अचल भी हैं और चलाचल भी हैं ' इस प्रकार वेदनाप्राभृतके सूत्रसे आत्मप्रदेशोंका भ्रमण अवगत हो जाने पर, जीवप्रदेशोंकी भ्रमणरूप अवस्थामें संपूर्ण जीवोंको अन्धपनेका प्रसंग आ जायगा, अर्थात् उस समय चक्षु आदि इन्द्रियां रूपादिको ग्रहण नहीं कर सकेंगी ?

समाधान—– यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जीवके संपूर्ण प्रदेशोंमें क्षयोपशम की उत्पत्ति स्वीकार की है । परंतु ऐसा मान लेने पर भी, जीवके संपूर्ण प्रदेशोंके द्वारा रूपादिकी उपलब्धिका प्रसंग भी नहीं आता है, क्योंकि, रूपादिके ग्रहण करनेमें उसके सहकारी कारणरूप बाह्य-निर्वृत्ति जीवके संपूर्ण प्रदेशोंमें नहीं पाई जाती है ।

---

१ उत्सेधांगुलासंख्येयभागप्रमितानां शुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनावस्थितानां वृत्तिरभ्यन्तरा निर्वृत्तिः । स. सि. २, १७. त. रा. वा. २. १७.

२ मु. वृत्तेः ।

३ वे. वे. सू. ५-७. स्थितास्थितवचनात् । × × तत्र सर्वकालं जीवाष्टमध्यमप्रदेशाः निरपवादाः सर्वजीवानां स्थिता एव । केवलिनामपि अयोगिनां सिद्धानां च सर्वप्रदेशाः स्थिता एव । व्यायामदुःखपरितापोद्रेकपरिणतानां जीवानां यथोक्ताष्टमध्यप्रदेशवर्जितानां इतरे प्रदेशाः अस्थिता एव । शेषाणां प्राणिनां स्थिताश्चास्थिताश्चेति वचनात् । त. रा. वा. ५. ८. १४.

सर्वजीवावयवेषु क्षयोपशमस्योत्पत्त्यभ्युपगमात्। न सर्वावयवैः रूपाद्युपलब्धिरपि, तत्सहकारिकारणबाह्यनिर्वृत्तेरशेषजीवावयवव्यापित्वाभावात्। कर्मस्कन्धैः सह सर्वजीवावयवेषु भ्रमत्सु तत्समवेतशरीरस्यापि तद्वद्भ्रमो भवेदिति चेन्न,

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तद्भ्रमणावस्थायां तत्समवायाभावात्। शरीरेण समवायाभावे मरणमाढौकत इति चेन्न, आयुषः क्षयस्य मरणहेतुत्वात्। पुनः कथं संघटत इति चेन्नानाभेदोपसंहृतजीवप्रदेशानां पुनः संघटनोपलम्भात्, द्वयोर्मूर्तयोः संघटने विरोधाभावाच्च, तत्संघटनहेतुकर्मोदयस्य कार्यवैचित्र्यादवगतवैचित्र्यस्य सत्त्वाच्च। द्रव्येन्द्रियप्रमितजीवप्रदेशानां न

विशेषार्थ—— यहाँ अभ्यन्तर निर्वृत्तिकी रचना दो प्रकारसे बतला आये हैं। प्रथम, लोकप्रमाण आत्मप्रदेशोंकी इन्द्रियाकार रचनाको अभ्यन्तर निर्वृत्ति कहा है। दूसरे, उत्सेधांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण आत्मप्रदेशोंकी इन्द्रियाकार रचनाको अभ्यन्तर निर्वृत्ति कहा है। इस प्रकार अभ्यन्तर निर्वृत्तिकी रचना दो प्रकारसे बतलानेका यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि स्पर्शन-इन्द्रिय सर्वांग होती है, इसलिये स्पर्शनेन्द्रियसंबन्धी अभ्यन्तर निर्वृत्ति भी सर्वांग होगी। इस अपेक्षासे लोकप्रमाण आत्मप्रदेशोंकी इन्द्रियाकार रचना अभ्यन्तर निर्वृत्ति कहलाती है, यह कथन बन जाता है। और शेष इंद्रियसंबंधी अभ्यन्तर निर्वृत्ति उत्सेधांगुलके असंख्यातवे भागप्रमाण बन जाती है। अथवा, 'सर्वजीवावयवेषु क्षयोपशमस्योत्पत्त्यभ्युपगमात्' अर्थात् जीवके संपूर्ण अवयवोंमें क्षयोपशमकी उत्पत्ति स्वीकार की है, यहाँ कहे गये इस वचनके अनुसार प्रत्येक इन्द्रियावरण कर्मका क्षयोपशम सर्वांग होता है, इसलिये पांचों इन्द्रियोंकी अभ्यन्तर निर्वृत्ति सर्वांग होना संभव है। किंतु इतनी विशेषता समझ लेना चाहिये कि स्पर्शनेन्द्रियकी अभ्यन्तर निर्वृत्तिको छोड़कर शेष इन्द्रियसंबन्धी अभ्यन्तर निर्वृत्ति उत्सेधांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण आत्मप्रदेशोंमें ही व्यक्त होती है।

शंका—— कर्मस्कन्धोंके साथ जीवके संपूर्ण प्रदेशोंके भ्रमण करने पर, जीवप्रदेशोंसे समवायसंबन्धको प्राप्त शरीरका भी जीवप्रदेशोंके समान भ्रमण होना चाहिये ?

समाधान—— ऐसा नहीं है, क्योंकि, जीवप्रदेशोंकी भ्रमणरूप अवस्थामें शरीरका उनसे समवायसंबन्ध नहीं रहता है।

शंका—— भ्रमणके समय शरीरके साथ जीवप्रदेशोंका समवायसंबन्ध नहीं मानने पर मरण प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, आयु-कर्मके क्षयको मरणका कारण माना है।

शंका—— तो जीवप्रदेशोंका शरीरके साथ फिरसे समवायसंबन्ध कैसे बन जाता है ?

समाधान—— इसमें भी कोई बाधा नहीं है, क्योंकि, जिन्होंने नाना अवस्थाओंका उपसंहार कर लिया है, ऐसे जीवोंके प्रदेशोंका शरीरके साथ फिरसे समवायसंबन्ध उपलब्ध होता हुआ देखा ही जाता है। तथा, दो मूर्त पदार्थोंके संबन्ध होनेमें कोई विरोध भी नहीं आता है। अथवा, जीवप्रदेश और शरीर संघटनके हेतुरूप कर्मोदयके कार्यकी विचित्रतासे यह

भ्रमणमिति किन्नेष्यत इति चेन्न, तदभ्रमणमन्तरेणाशुभ्रमज्जीवानां भ्रमद्भूम्यादिदर्शनानुपपत्तेः इति। तेष्वात्मप्रदेशेषु इन्द्रियव्यपदेशभाक्षु यः प्रतिनियतसंस्थानो नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयः स बाह्या निर्वृत्तिः[1]। मसूरिकाकारा अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता चक्षुरिन्द्रियस्य बाह्या निर्वृत्तिः। यवनालिकाकारा अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता श्रोत्रस्य बाह्या निर्वृत्तिः। अतिमुक्तकपुष्पसंस्थाना अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता घ्राणनिर्वृत्तिः। अर्धचन्द्राकारा क्षुरप्राकारा वाङ्गुलस्य

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सब होता है। और जिसके अनेक प्रकारके कार्य अनुभवमें आते हैं ऐसे कर्मका सत्त्व पाया ही जाता है।

शंका— द्रव्येन्द्रिय-प्रमाण जीवप्रदेशोंका भ्रमण नहीं होता, ऐसा क्यों नहीं मान लेते हो ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यदि द्रव्येन्द्रिय-प्रमाण जीवप्रदेशोंका भ्रमण नहीं माना जावे, तो अत्यन्त द्रुतगतिसे भ्रमण करते हुए जीवोंको भ्रमण करती हुई पृथिवी आदिका ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिये आत्मप्रदेशोंके भ्रमण करते समय द्रव्येन्द्रिय प्रमाण आत्मप्रदेशोंका भी भ्रमण स्वीकार कर लेना चाहिये।

इस तरह इन्द्रिय-व्यपदेशको प्राप्त होनेवाले उन आत्मप्रदेशोंमें, जो प्रतिनियत आकारवाला और नामकर्मके उदयसे अवस्था-विशेषको प्राप्त पुद्गलप्रचय है उसे बाह्य-निर्वृत्ति कहते हैं। मसूरके समान आकारवाली और घनांगुलके असंख्यातवेंभाग-प्रमाण चक्षु इन्द्रियकी बाह्य-निर्वृत्ति होती है। यवकी नालीके समान आकारवाली और घनांगुलके असंख्यातवें भाग-प्रमाण श्रोत्र-इन्द्रियकी बाह्य-निर्वृत्ति होती है। कदम्बके फूलके समान आकारवाली और घनांगुलके असंख्यातवें भाग-प्रमाण घ्राण-इन्द्रियकी बाह्य-निर्वृत्ति होती है। अर्ध-चन्द्र अथवा खुरपाके समान आकारवाली और घनांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण रसना इन्द्रियकी बाह्य-निर्वृत्ति होती है। स्पर्शन-इन्द्रियकी बाह्य-निर्वृत्ति अनियत आकारवाली होती है। वह जघन्य-प्रमाणकी अपेक्षा घनांगुलके असंख्यातवें भाग-प्रमाण सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके (तीन मोडेसे-ऋजुगतिसे उत्पन्न होनेके तृतीय समयवर्ती) शरीरमें पाई जाती है, और उत्कृष्ट प्रमाणकी अपेक्षा संख्यात घनांगुल-प्रमाण महामत्स्य आदि त्रस जीवोंके शरीरमें पाई जाती है। चक्षु-इन्द्रियके अवगाहनारूप प्रदेश सबसे कम हैं। उनसे संख्यातगुणे श्रोत्र इंद्रियके प्रदेश हैं। उनसे अधिक घ्राण-इंद्रियके प्रदेश हैं। उनसे असंख्यात गुणे जिव्हा-इन्द्रियमें प्रदेश हैं। और उनसे संख्यातगुणे स्पर्शन-इन्द्रियमें प्रदेश हैं।

विशेषार्थ— यहां इन्द्रियोंकी अवगाहना बतला कर जो चक्षु आदि इन्द्रियोंके प्रदेशोंका प्रमाण बतलाया गया है, वह इन्द्रियोंकी अवगाहनाके तारतम्यका ही बोधक जानना चाहिये। अर्थात् चक्षु इन्द्रिय अपनी अवगाहनासे जितने आकाश-प्रदेशोंको रोकती है, उससे

---

१ पाठोऽयं त. रा. वा. २. १७. वा. ३-४ व्याख्यया समानः।

संख्येयभागप्रमिता रसननिर्वृत्तिः। स्पर्शनेन्द्रियनिर्वृत्तिरनियतसंस्थाना। सा जघन्येन अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता सूक्ष्मशरीरेषु, उत्कर्षेण संख्येयघनाङ्गुलप्रमिता महामत्स्यादित्रसजीवेषु[1]। सर्वतः स्तोकाश्चक्षुषः प्रदेशाः, श्रोत्रेन्द्रियप्रदेशाः संख्येयगुणाः, घ्राणेन्द्रियप्रदेशा विशेषाधिकाः, जिह्वायामसंख्येयगुणाः, स्पर्शने संख्येयगुणाः[2]। उक्तं च---

जव-णालिया मसूरी चंदद्धइमुत्त-फुल्ल-तुल्लाइं।
इंदिय-संठाणाइं फस्सं पुण णेय-संठाणं[3] ॥ १३४ ॥

उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणम्, येन निर्वृत्तेरुपकारः क्रियते तदुपकरणम्। तद् द्विविधं बाह्याभ्यन्तरभेदात्। तत्राभ्यन्तरं कृष्णशुक्लमण्डलम्। बाह्यमक्षिपत्रपक्ष्मद्वयादि। एवं शेषेष्विन्द्रियेषु[4] ज्ञेयम्[5]। लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्[6]। इन्द्रियनिर्वृत्तिहेतुः

संख्यातगुणे आकाश-प्रदेशोंको व्याप्त कर श्रोत्रेन्द्रिय रहती है। उससे विशेष अधिक आकाश-प्रदेशोंको घ्राण-इन्द्रिय व्याप्त करती है। उससे असंख्यातगुणे आकाशप्रदेशोंको व्याप्त कर जिह्वा-इन्द्रिय रहती है और उससे संख्यातगुणे आकाश-प्रदेशोंको व्याप्त कर स्पर्शन इन्द्रिय रहती है। गोमट्टसार जीवकाण्डकी 'अंगुलअसंखभागं' इत्यादि गाथासे इसी कथनकी पुष्टि होती है। अवगाहनाके समान इन्द्रियाकार आत्मप्रदेशोंकी रचनामें भी यह क्रम लागू हो सकता है। परंतु राजवार्तिकमें 'स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि' इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए रसना-इन्द्रियसे स्पर्शन-इन्द्रियके प्रदेश अनन्तगुणे अधिक बतलाये हैं। यह कथन इन्द्रियोंकी अवगाहना और इन्द्रियाकार आत्मप्रदेशोंकी रचनामें किसी भी प्रकारसे घटित नहीं होता है, क्योंकि, एक जीवके अवगाहनरूप क्षेत्र और आत्मप्रदेश अनन्तप्रमाण या अनन्तगुणे संभव ही नहीं हो सकते। संभव है वहां पर बाह्यनिर्वृत्तिके प्रदेशोंकी अपेक्षासे उक्त कथन किया गया हो। कहा भी है---

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

श्रोत्र-इन्द्रियका आकार यवकी नालीके समान है, चक्षु-इन्द्रियका मसूरके समान, रसना-इन्द्रियका आधे चन्द्रमाके समान, घ्राण-इन्द्रियका कदम्बके फूलके समान आकार है और स्पर्शन-इन्द्रिय अनेक आकारवाली है ॥ १३४ ॥

जिसके द्वारा उपकार किया जाता है, अर्थात् जो निर्वृत्तिका उपकार करता है उसे उपकरण कहते हैं। वह बाह्य-उपकरण और अभ्यन्तर-उपकरणके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे कृष्ण और शुक्ल मण्डल नेत्र-इन्द्रियका अभ्यन्तर-उपकरण है, और दोनों पलकें तथा दोनों

---

१ सुहुमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि। अंगुलअसंखभागं जहण्णमुक्कस्सयं मच्छे ॥ गो. जी. १७३. २ 'स्पर्शनेऽनंतगुणाः' इति पाठः त. रा. वा. २. १९. ५.

३ प्रा. पं. १, ६६। चक्खू सोदं घाणं जिब्भायारं मसूरजवणाली। अतिमुत्तखुरप्पसमं फासं तु अणेयसंठाणं ॥ गो. जि. १७१ ४ मु. शेषेन्द्रियेषु।

५ पाठोऽयं त. रा. वा. २. १७. वा. ५--७ व्याख्यया समानः। ६ त. सू. २. १८.

क्षयोपशमविशेषो लब्धिः[1]। यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते स ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषो लब्धिरिति विज्ञायते। तदुक्तनिमित्तं प्रतीत्योत्पद्यमानः आत्मनः परिणामः उपयोग[2] इत्यपदिश्यते। तदेतदुभयं भावेन्द्रियम्। उपयोगस्य[3] तत्फलत्वादिन्द्रियव्यपदेशानुपपत्तिरिति चेन्न, कारणधर्मस्य कार्यानुवृत्तेः। कार्यं हि लोके कारणमनुवर्तमानं दृष्टं यथा घटाकारपरिणतं विज्ञानं घट इति। तथेन्द्रियनिर्वृत्त

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नेत्ररोम (बरोनी) आदि उसके बाह्य-उपकरण हैं। इसी प्रकार शेष इन्द्रियोंमें जानना चाहिये।

लब्धि और उपयोगको भावेन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रियकी निर्वृत्तिका कारणभूत जो क्षयोपशम-विशेष है उसे लब्धि कहते हैं। अर्थात् जिसके सन्निधानसे आत्मा द्रव्येन्द्रियकी रचनामें व्यापार करता है, ऐसे ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम-विशेषको लब्धि कहते हैं। और उस पूर्वोक्त निमित्तके आलम्बनसे उत्पन्न होनेवाले आत्माके परिणामको उपयोग कहते हैं। इसप्रकार लब्धि और उपयोग ये दोनों भावेन्द्रियां हैं।

शंका–– उपयोग इन्द्रियोंका फल है, इसलिये उपयोगको इन्द्रिय संज्ञा देना उचित नहीं है?

समाधान–– नहीं, क्योंकि, कारणमें रहनेवाले धर्मकी कार्यमें अनुवृत्ति होती है। अर्थात् कार्य लोकमें कारणका अनुकरण करता हुआ देखा जाता है। जैसे, घटके आकारसे परिणत हुए ज्ञानको घट कहा जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए उपयोगको भी इन्द्रिय संज्ञा दी गई है।

इन्द्र (आत्मा) के लिंगको इन्द्रिय कहते हैं। या जो इन्द्र अर्थात् नामकर्मसे रची गई है उसे इन्द्रिय कहते हैं। इस प्रकार जो इन्द्रिय शब्दका अर्थ किया जाता है, वह क्षयोपशममें प्रधानतासे पाया जाता है, इसलिये उपयोगको इन्द्रिय संज्ञा देना उचित है।

उक्त प्रकारकी इन्द्रियकी अपेक्षा जो अनुवाद, अर्थात् आगमानुकूल कथन किया जाता है उसे इन्द्रियानुवाद कहते हैं। उसकी अपेक्षा एकेन्द्रिय जीव हैं। जिनके एक ही इन्द्रिय पाई

---

१ अर्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः। लघी. स्व. वि. १. ५.। गो. जी., जी. प्र., टी. १६५. लम्भनं लब्धिः। कः पुनरसौ? ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषः। स. सि. २. १८. इन्द्रियनिर्वृत्तिहेतुः क्षयोपशमविशेषो लब्धिः। त. रा. वा. २. १८. १. स्वार्थसंविद्योग्यतैव च लब्धिः। त. श्लो. वा. २. १८. आवरणक्षयोपशमप्राप्तिरूपा अर्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः। स्या. रत्ना पृ. ३४४.

२ अर्थग्रहणव्यापार उपयोगः। गो. जी., जी. प्र., टी. १६५. उपयोगः पुनः अर्थग्रहणव्यापारः। लघी. स्व. वि. १. ५. यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते तन्निमित्त आत्मनः परिणाम उपयोगः। स. सि. २. १८.। त. रा. वा. २. १८. २. उपयोगः प्रणिधानम्। त. भा. २. १९. उपयोगस्तु रूपादिग्रहणव्यापारः। स्या. रत्ना. पृ. ३४४.

३ उपयोगस्य फलत्वादिन्द्रियव्यपदेशानुपपत्तिरिति चेन्न, कारणधर्मस्य कार्यानुवृत्तेः। त. रा. वा. २. १८. ३.

उपयोगोऽपि इन्द्रियमित्यपदिश्यते'। इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रेण सृष्टमिति वा य इन्द्रियशब्दार्थः स क्षयोपशमे प्राधान्येन विद्यत इति तस्येन्द्रियव्यपदेशो न्याय्य इति। तेन इन्द्रियेण अनुवादः इन्द्रियानुवादः, तेन सन्ति एकेन्द्रियाः। एकमिन्द्रियं येषां त एकेन्द्रियाः। किं तदेकमिन्द्रियम्? स्पर्शनम्। वीर्यान्तरायस्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भात्स्पृशत्यनेनेति स्पर्शनं[2] करणकारके। इन्द्रियस्य स्वातन्त्र्यविवक्षायां कर्तृत्वं च भवति। यथा पूर्वोक्तहेतुसन्निधाने सति स्पृशतीति स्पर्शनम्। कोऽस्य विषयः? स्पर्शः। कोऽस्यार्थः? उच्यते, यदा[3] वस्तु प्राधान्येन विवक्षितं तदा

....

जाती है उन्हें एकेन्द्रिय जीव कहते हैं।

शंका— वह एक इन्द्रिय कौनसी है?

समाधान— वह एक इन्द्रिय स्पर्शन समझना चाहिये।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वीर्यान्तराय और स्पर्शनेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे तथा अंगोपांग नामकर्मके उदयरूप आलम्बनसे जिसके द्वारा स्पर्श किया जाता है उसे स्पर्शन इन्द्रिय कहते हैं। यह लक्षण करण-कारककी अपेक्षामें (परतन्त्र विवक्षामें) बनता है। और इन्द्रियकी स्वातन्त्र्यविवक्षामें कर्तृ-साधन होता है। जैसे, पूर्वोक्त साधनोंके रहने पर जो स्पर्श करता है उसे स्पर्शन-इन्द्रिय कहते हैं।

शंका— स्पर्शन-इन्द्रियका विषय क्या है?

समाधान— स्पर्शन-इन्द्रियका विषय स्पर्श है।

शंका— स्पर्शका क्या अर्थ है? अर्थात् स्पर्शसे किसका ग्रहण करना चाहिये?

समाधान— जिस समय द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा प्रधानतासे वस्तु ही विवक्षित होती है, उस समय इन्द्रियके द्वारा वस्तुका ही ग्रहण होता है, क्योंकी, वस्तुको छोड़कर स्पर्शादिक धर्म पाये नहीं जाते हैं। इसलिये इस विवक्षामें जो स्पर्श किया जाता है उसे स्पर्श कहते हैं, और वह स्पर्श वस्तुरूप ही पड़ता हैं। तथा जिस समय पर्यायार्थिकनयकी प्रधानतासे पर्याय विवक्षित होती है, उस समय पर्यायका द्रव्यसे भेद होनेके कारण उदासीनरूपसे अवस्थित भावका कथन किया जाता है। इसलिये स्पर्शमें भावसाधन भी बन जाता है। जैसे, स्पर्शना ही स्पर्श है।

शंका— यदि ऐसा है, तो सूक्ष्म परमाणु आदिमें स्पर्श व्यवहार नहीं बन सकता है, क्योंकि, उसमें स्पर्शनरूप क्रियाका अभाव है?

....

१ सन्दर्भोयं त. रा. वा. २. १८. वा. १-३. व्याख्यया समानः।

२ स. सि. २. १९. त. रा. वा. २. १९.

३ 'नैवासतो जन्म सतो न नाशो' बृ. स्व. स्तो. २४. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। भग. गी. २. १६.

इन्द्रियेण वस्त्वेव विषयीकृतं भवेद्, वस्तुव्यतिरिक्तस्पर्शाद्यभावात्। एतस्यां विवक्षायां
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
स्पृश्यत इति स्पर्शो वस्तु। यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा तस्य ततो भेदोपपत्तेरौदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनत्वमप्यविरुद्धम्, यथा स्पर्शनं स्पर्श इति। यद्येवम्, सूक्ष्मेषु परमाण्वादिषु स्पर्शव्यवहारो न प्राप्नोति, तत्र तदभावात्? नैष दोषः, सूक्ष्मेष्वपि परमाण्वादिष्वस्ति स्पर्शः, स्थूलेषु तत्कार्येषु तद्दर्शनान्यथानुपपत्तेः। नह्यत्यन्तासतां प्रादुर्भावोऽस्तिअतिप्रसङ्गात्। किन्तु इन्द्रियग्रहणयोग्या न भवन्ति[1]। ग्रहणायोग्यानां कथं स व्यपदेश इति चेन्न तस्य सर्वदा अयोग्यत्वाभावात्। परमाणुगतः सर्वदा न ग्रहणयोग्यश्चेन्न, तस्यैव स्थूलकार्याकारेण परिणतौ योग्यत्वो-

---

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, सूक्ष्म परमाणु आदिमें भी स्पर्श है, अन्यथा, परमाणुओंके कार्यरूप स्थूल पदार्थोंमें स्पर्शकी उपलब्धि नहीं हो सकती थी। किंतु स्थूल पदार्थोंमें स्पर्श पाया जाता है, इसलिये सूक्ष्म परमाणुओंमें भी स्पर्शकी सिद्धि हो जाती है, क्योंकि, न्यायका यह सिद्धान्त है, कि जो अत्यंत (सर्वथा) असत् होते हैं उनकी उत्पत्ति नहीं होती है। यदि सर्वथा असत्की उत्पत्ति मानी जावे, तो अतिप्रसंग हो जायगा। (अर्थात् बांझके पुत्र, आकाशके फूल आदि अविद्यमान बातोंका भी प्रादुर्भाव मानना पड़ेगा) इसलिये यह समझना चाहिये कि परमाणुओंमें स्पर्शादिक पाये तो अवश्य जाते हैं, किंतु वे इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं होते हैं।

शंका—जब कि परमाणुओंमें रहनेवाला स्पर्श इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है, तो फिर उसे स्पर्श संज्ञा कैसे दी जा सकती है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, परमाणुगत स्पर्शके इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करनेकी अयोग्यताका सर्वदा अभाव नहीं है।

शंका—परमाणुमें रहनेवाला स्पर्श तो इन्द्रियोंद्वारा कभी भी ग्रहण करने योग्य नहीं है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जब परमाणु स्थूल कार्यरूपसे परिणत होते हैं, तब तद्गत धर्मोंकी इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण करनेकी योग्यता पाई जाती है।

शंका—वे एकेन्द्रिय जीव कौन कौनसे हैं?

समाधान—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति, ये पांच एकेन्द्रिय जीव हैं।

शंका—इन पांचोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है, शेष इन्द्रियां नहीं होतीं, यह कैसे जाना?

---

१ प्रबन्धोऽयं त. रा. वा. २. २०. १. व्याख्यया समानः।

पलम्भात् । के त एकेन्द्रियाः ? पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः । एतेषां स्पर्शनमेकमेवेन्द्रियमस्ति, न शेषाणीति कथमवगम्यत इति चेन्न, स्पर्शनेन्द्रियवन्त एत इति प्रतिपादकार्षोपलम्भात् । क्व तत्सूत्रमिति चेत् कथ्यते--

जाणदि पस्सदि भुंजदि सेवदि पासिदिएण एक्केण ।
कुणदि य तस्सामित्तं थावरु एइंदिओ तेण[1] ॥ १३५ ॥

'वनस्पत्यन्तानामेकम्[2]' इति तत्त्वार्थसूत्राद्वा । अस्यार्थः– [3]अयमन्तशब्दोऽनेकार्थवाचकः– क्वचिदवयवे, यथा वस्त्रान्तो वसनान्त इति । क्वचित्सामीप्ये, यथा उदकान्तं गत, उदकसमीपं गत इति । क्वचिदवसाने वर्तते, यथा संसारान्तं गतः, संसारावसानं गत इति । तत्रेह विवक्षातोऽवसानार्थो वेदितव्यः, वनस्पत्यन्तानां वनस्पत्यवसानानामिति । सामीप्यार्थः किन्न गृह्यते ? न, वनस्पत्यन्तानां वनस्पतिसमीपानामित्यर्थे गृह्यमाणे वायुकायानां त्रसकायानां च सम्प्रत्ययः प्रसज्येत 'पृथि-

समाधान–– नहीं, क्योंकि, पृथिवी आदि एकेन्द्रिय जीव एक स्पर्शन-इन्द्रियवाले होते हैं, इस प्रकार कथन करनेवाला आर्ष-वचन पाया जाता है ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका–– यह आर्ष-वचन कहां पाया जाता है ?

समाधान–– वह आर्ष-वचन यहां कहा जाता है––

क्योंकि, स्थावर जीव एक स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा ही जानता है, देखता है, भोगता है, सेवन करता है और उसका स्वामीपना करता है, इसलिये उसे एकेन्द्रिय स्थावर जीव कहा हैं ॥ १३५ ॥

अथवा, 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' तत्वार्थसूत्रके इस वचनसे जाना जाता है कि उनके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है । अब इस सूत्रका अर्थ करते हैं, अन्त शब्द अनेक अर्थोंका वाचक है । कहीं पर अवयवरूप अर्थमें आता है, जैसे, 'वस्त्रान्तः' अर्थात् वस्त्रका अवयव । कहीं पर समीपताके अर्थमें आता है, जैसे 'उदकान्तं गतः' अर्थात् जलके समीप गया । कहीं पर अवसानरूप अर्थमें आता है, जैसे, 'संसारान्तं गतः' अर्थात् संसारके अन्तको प्राप्त हुआ । उनमेंसे यहां पर विवक्षासे अन्त शब्दका अवसानरूप अर्थ जानना चाहिये– वनस्पत्यन्त जीवोंके अर्थात् वनस्पतिपर्यन्त जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है ।

शंका–– 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इसमें आये हुए अन्त पदका 'वनस्पतिके समीपवर्ती जीवोंके एक स्पर्शन-इन्द्रिय होती है' इस प्रकार सामीप्य-वाचक अर्थ क्यों नहीं लेते ?

समाधान–– यदि 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इस सूत्रमें आये हुए अन्त शब्दका समीप

१ प्रा. पं. १, ६९. २ त. सू. २. २२.
३ पाठोऽयं त. रा. वा. २. २२, वा. १–५ व्याख्यया समानः ।

व्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसाः' इत्यत्र तयोरेव सामीप्यदर्शनात् । अयमन्तशब्दः सम्बन्धिशब्दत्वात् कांश्चित्पूर्वानपेक्ष्य वर्तते ततोऽर्थादादिसम्प्रत्ययो भवति तस्मादयमर्थोऽवगम्यते पृथिव्यादीनां वनस्पत्यन्तानामेकमिन्द्रियमिति । एवमपि पृथिव्यादीनां वनस्पत्यन्तानां स्पर्शनादिष्वन्यतममेकमिन्द्रियं प्राप्नोत्यविशेषादिति चेन्नैष दोषः, अयमेकशब्दः प्राथम्यवचनः[1] 'स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि'[2] इत्यत्र तत्प्राथम्यमाश्रित इति । वीर्यान्तरायस्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वघातिस्पर्धकोदये चैकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां स्पर्शनमेकमिन्द्रियमाविर्भवति ।

द्वे इन्द्रिये येषां ते द्वीन्द्रियाः । के ते ? शंखशुक्तिकृम्यादयः । उक्तं च—

कुक्खिकिमि-सिपि-संखा गंडूलारिट्ठ-अक्ख-खुल्ला य ।
तह य वराडय जीवा णेया बीइंदिया एदे[1] ॥ १३६ ॥

....

अर्थ लिया जाय तो उससे वायुकायिक और त्रसकायिकका ही ज्ञान होगा, क्योंकि, 'पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसाः' इस वचनमें वायुकायिक और त्रसकायिक ही वनस्पतिके समीप दिखाई देते हैं । यह अन्त शब्द संबन्धी शब्द होनेसे अपनेसे पूर्ववर्ती कितने ही शब्दोंकी अपेक्षा करके प्रवृत्ति करता है, और इससे अर्थवश आदिका ज्ञान हो जाता है । उससे यह अर्थ मालूम पड़ता है कि पृथिवीकायिकसे लेकर वनस्पति पर्यन्त जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है ।

शंका—— ऐसा मान लेने पर भी पृथिवीसे लेकर वनस्पति पर्यन्त जीवोंके स्पर्शन आदि पांच इन्द्रियोंमेंसे कोई एक इन्द्रिय प्राप्त होती है, क्योंकि, 'वनस्पत्यान्तानामेकम्' इस सूत्रमें आया हुआ एक पद स्पर्शन-इन्द्रियका बोधक तो है नहीं, वह तो सामान्यसे संख्यावाची है, इसलिये पांच इन्द्रियोंमेंसे किसी एक इन्द्रियका ग्रहण किया जा सकता है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह एक शब्द प्राथम्यवाची है, इसलिये उससे 'स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि' इस सूत्रमें आई हुई सबसे प्रथम स्पर्शन-इन्द्रियका ही ग्रहण होता है ।

वीर्यान्तराय और स्पर्शनेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम होनेपर, रसना आदि शेष इन्द्रियावरणके सर्वघाती स्पर्द्धकोंके उदय होनेपर तथा एकेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयकी वशवर्तिताके होनेपर स्पर्शन एक इन्द्रिय उत्पन्न होती है ।

जिनके दो इन्द्रियां होती हैं उन्हें द्वीन्द्रिय जीव कहते हैं ।

शंका—— वे द्वीन्द्रिय जीव कौन कौन हैं ?

समाधान— शंख, शुक्ति और कृमि आदिक द्वीन्द्रिय जीव हैं । कहा भी है—

....

१ मु. वचनम् ।　　२ त. सू. २. १९.

१ प्रा. पं. १, ७० पाठभेदः उदरान्तर्वर्तिनो हर्षा (अर्शो) मूलमपानकंडूकराः स्त्रीयोन्यन्तर्गता

के ते द्वे इन्द्रिय इति चेत् ? स्पर्शनरसने। स्पर्शनमुक्तलक्षणम्। भेदविवक्षायां वीर्यान्तरायरसनेन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भाद्रसयत्यनेनेति रसनं करणकारके। इन्द्रियाणां स्वातन्त्र्यविवक्षायां पूर्वोक्तहेतुसन्निधाने सति रसयतीति रसनं कर्तृकारके भवति। कोऽस्य विषयः ? रसः। कोऽस्यार्थः ? यदा वस्तु प्राधान्येन विवक्षितं तदा वस्तुव्यतिरिक्तपर्यायाभावाद्वस्त्वेव रसः। एतस्यां विवक्षायां

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कुक्षि-कृमि अर्थात् पेटके कीड़े, सीप, शंख, गण्डोला अर्थात् उदरमें उत्पन्न होनेवाली बड़ी कृमि, अरिष्ट नामक एक जीवविशेष, अक्ष अर्थात् चन्दनक नामका जलचर जीवविशेष, क्षुल्लक अर्थात् छोटा शंख और कौडी आदि द्वीन्द्रिय जीव हैं ॥ १३६ ॥

शंका—– वे दो इन्द्रियां कौनसी हैं ?

समाधान—–स्पर्शन और रसना। उनमेंसे स्पर्शनका स्वरूप कह आये हैं। अब रसना-इन्द्रियका स्वरूप कहते हैं—–

भेद-विवक्षाकी प्रधानता अर्थात् करणकारककी विवक्षा होनेपर, वीर्यान्तराय और रसनेन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमसे तथा आंगोपांग नामकर्मके उदयके अवलम्बनसे जिसके द्वारा स्वादका ग्रहण होता है उसे रसना-इन्द्रिय कहते हैं। तथा इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्य-विवक्षा अर्थात् कर्तृ-कारककी विवक्षामें पूर्वोक्त साधनोंके मिलनेपर जो आस्वाद ग्रहण करती है उसे रसना-इन्द्रिय कहते हैं।

शंका—– रसना इन्द्रियका विषय क्या है ?

समाधान—– इस इन्द्रियका विषय रस है।

शंका—– रस शब्दका क्या अर्थ है ?

वा जीवाः कुक्षिकृमयः। गण्डोलका उदरान्तर्बृहत्कृमयः। जलचरजीवविशेषाः चन्दनकाः, ते तु समयभाषयाऽक्षत्वेन प्रतीताः। वराटकः कपर्दकः, कौंडीति भाषायाम्। (ग्रन्थान्तरेषु निम्नांकितनामानो जीवा अपि द्वीन्द्रियत्वेन प्रसिद्धाः) संख-कवड्डय-गंडोल-जलोय-चंदणग-अलस-लहगाई। मेहर-किमि-पूयरगा बेइंदिय माइवाहाई। जलोय-जलौकसः। अलसा भूनागाः, येऽश्लेषास्थे भानौ जलदवृष्टी सत्यां समुत्पद्यन्ते। लहको जीवविशेषो विषयप्रसिद्धः (उषिताम्रोत्पन्नजीवः, देशीशब्दोऽयं) मेहरकः काष्ठकीटविशेषः। पूयरगा-पूतरा जलान्तर्वर्तिनो रक्तवर्णाः कृष्णमुखाः जीवाः। माइवाही-मातृवाहिका गुर्जरदेशप्रसिद्धा चुडेलीति आदिग्रहणादीलिकादयोऽनुक्ता अपि द्वीन्द्रियाः ग्राह्याः। जी. वि. प्र. पृ. १०. किमिणो सोमंगला चेव अलसा माइवाहया। वासीमुहा य सिप्पिया संख संखणगा तहा ॥ पल्लोयाणुल्लया चेव तहेव य वराडगा। जलूगा चेव चन्दणा य तहेव य ॥ उत्त. २६. १२९–१३०. से किं तं बेइंदिया ? बेइंदिया अणेगविहा पन्नत्ता। तं जहा, पुलाकिमिया, कुच्छिकिमिया, गंडूयलगा, गोलोमा, णउरा, सोमंगलगा, वंसीमुहा, सूइमुहा गोजलोया, जलोया, जालाउया, संखा, संखणगा, घुल्ला, खुल्ला, गुलया, खंधा, वराडा, सोत्तिया, मुत्तिया, कलुयावासा, एगओवत्ता, दुहओवत्ता, नंदियावत्ता, संबुक्का, माइवाहा, सिप्पिसंपुडा, चंदणा, समुद्दलिक्खा, जे यावन्ने तहप्पगारा। प्रज्ञा. १. ४४,

कर्मसाधनत्वं रसस्य, यथा रस्यत इति रसः । यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेः औदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनत्वं रसस्य, रसनं रस इति। न सूक्ष्मेषु परमाण्वादिषु रसाभावः, उक्तोत्तरत्वात् । कुत एतयोरुत्पत्तिरिति चेत्, वीर्यान्तरायस्पर्शनरसनेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति[1] शेषेन्द्रियसर्वघातिस्पर्धकोदये चाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भे द्वीन्द्रियजातिकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां स्पर्शनरसनेन्द्रिये आविर्भवतः ।

त्रीणि इन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः । के ते ? कुन्थुमत्कुणादयः[2] । उक्तं च–

....

समाधान—– जिस समय प्रधानरूपसे वस्तु विवक्षित होती है, उस समय वस्तुको छोड़कर पर्याय नहीं पाई जाती है, इसलिये वस्तु ही रस है । इस विवक्षामें रसके कर्मसाधनपना है । जैसे, जो चखा जाय वह रस है । तथा जिस समय प्रधानरूपसे पर्याय विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद बन जाता है, इसलिये जो उदासीनरूपसे अवस्थित भाव है उसीका कथन किया जाता है । इस प्रकार रसके भावसाधनपना भी बन जाता है । जैसे, आस्वादनरूप क्रियाधर्मको रस कहते हैं । सूक्ष्म परमाणु आदिमें रसका अभाव हो जायगा, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, इसका उत्तर पहले दे आये हैं ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका—– स्पर्शन और रसना इन दोनों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति किस कारणसे होती है ?

समाधान—– वीर्यान्तराय और स्पर्शन व रसनेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम होनेपर, शेष इन्द्रियावरण कर्मके सर्वघाती स्पर्द्धकोंके उदय होनेपर, आंगोपांग नामकर्मका आलम्बन होनेपर तथा द्वीन्द्रियजाति नामकर्मके उदयकी वशर्वतिता होनेपर स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं ।

जिनके तीन इन्द्रियां होती हैं उन्हें त्रीन्द्रिय जीव कहते हैं ।

शंका—– वे तीन इन्द्रिय जीव कौन कौन हैं ?

समाधान—– कुन्थु और खटमल आदि त्रीन्द्रिय जीव हैं । कहा भी है—–

....

१ प्रबन्धोऽयं त. रा. वा. २. १९–२०, वा. १–१ व्याख्याभ्यां समानः ।

२ से किं तं तेइंदिय-संसार-समावन्न-जीवपन्नवणा ? तेइंदिय संसारसमावन्न-जीवपन्नवणा अणेगविहा पन्नत्ता । तं जहा, ओवइया, रोहिणिया, कुंथू, पिपीलिया, उद्दंसगा, उद्देहिया, उक्कलिया, उप्पाया, उप्पाडा, तणाहारा, कट्ठाहारा, मालुया, पत्ताहारा, तणबेंटिया, पत्तबेंटिया, पुप्फबेंटिया, फलबेंटिया बीयबेंटिया, तेबुरणमिंजिया, तओसिमिंजिया, कप्पासट्ठिमिंजिया, हिल्लिया, झिल्लिया, झिंगिरा, किंगिरिडा, बाहुया, लहुया, सुभगा, सोवत्थिया, सुयबेंटा, इंदकाइया, इंदगोवया, तुरतुंबगा, कुच्छलवाहगा, जूया, हालाहला,

कुंथु-पिपीलिक मंकुण-विच्छिअ-जू इंदगोव-गोम्ही य ।
उत्तिगणट्टियादी[1] णेया तीइंदिया जीवा[2] ॥ १३७ ॥

कानि तानि त्रीणीन्द्रियाणीति चेत्? स्पर्शनरसनघ्राणानि। स्पर्शनरसने उक्त-लक्षणे। किं घ्राणमिति चेत् करणसाधनं घ्राणम्। कुतः ? पारतन्त्र्यादिन्द्रियाणाम्। ततो वीर्यान्तरायघ्राणेन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भाज्जिघ्रत्यनेनात्मेति घ्राणम्। कर्तृसाधनं च भवति स्वातन्त्र्यविवक्षायामिन्द्रियाणाम्। दृश्यते चेन्द्रियाणां लोके स्वातन्त्र्यविवक्षा, यथेदं मेऽक्षि सुष्ठु पश्यति, अयं मे कर्णः सुष्ठु

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कुन्थु, पिपीलिका, खटमल, बिच्छू, जूं, इन्द्रगोप, कनखजूरा, गर्दभाकार कीटविशेष तथा नट्टियादिक कीटविशेष, ये सब त्रीन्द्रिय जीव हैं ॥ १३७ ॥

शंका-- वे तीन इन्द्रियां कौन कौन हैं ?

समाधान-- स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियां हैं। इनमेंसे स्पर्शन और रसनाका लक्षण कह आये। अब घ्राण-इन्द्रियका लक्षण कहते हैं—

शंका-- घ्राण किसे कहते हैं ?

समाधान-- घ्राण शब्द करणसाधन है, क्योंकि, पारतन्त्र्यविवक्षामें इन्द्रियोंके करण-साधन होता है। इसलिये वीर्यान्तराय और घ्राणेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम तथा आंगोपांग नामकर्मके उदयके आलम्बनसे जिसके द्वारा सूंघा जाता है उसे घ्राण-इन्द्रिय कहते हैं। अथवा, इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्यविवक्षामें घ्राण शब्द कर्तृसाधन भी होता है, क्योंकि, लोकमें इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्यविवक्षा भी देखी जाती है। जैसे, यह मेरी आंख अच्छी तरह देखती है; यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता है। अतः पहले कहे हुए हेतुओंके मिलनेपर जो सूंघता है उसे घ्राण-इन्द्रिय कहते हैं।

पिसूया, सयवाइया, गोम्ही, हत्थिसोंडा, जे यावन्ने तहप्पगारा। प्रज्ञा. १. ४५.

१ मु. उतिरंगणट्टियादी ? णेया।

२ प्रा. पं. १, ७१। कुंथुपिपीलिके प्रतीते। मत्कुणवृश्चिकयूकेन्द्रगोपाश्चापि प्रसिद्धा एव। गोमीति गुल्मिः कर्णश्रृगाली (कनखजूरा इति हिन्दीभाषायाम्) विशेषपरिज्ञानायान्येऽपि त्रीन्द्रियजीवा उल्लिख्यन्ते। गोमीमंकुणजूआपिपीलिउद्देहिया य मक्कोडा। इल्लियघयमिल्लीओ सावय गोकीडजाईओ ॥ गद्दहयचोरकीडागोमयकीडा य धन्नकीडा य। कुंथु गु (गो) वालिय इलिया तेइंदिय इंदगोवाई ॥ उद्देहिया-उपदेहिका वाल्मीक्यः। इल्लिका धान्यादिषूत्पन्नाः। 'घयमिल्लि' त्ति घृतेलिकाः। 'सावयेति' लोकभाषया सावा, ते मनुष्याणामशुभोदर्कतः प्राग् भाविनि कष्टे शरीरकेशेषूत्पद्यन्ते। गोकीटकाः प्रतीता एव। जातिग्रहणेन सर्वतिरश्चां कर्णाद्यवयवेषूत्पन्नाश्च जम्बुकचिच्चडादयो ग्राह्याः। गद्दहय-गर्दभकाः (गोशालोत्पन्नजन्तवः) चोरकीटाः, (विष्टोत्पन्नजन्तवः) गोमयकीटाच्छगणोत्पन्नाः। धान्यकीटा घुणत्वेन प्रसिद्धाः। शेषाश्च स्वनामसिद्धाः। जी. वि. प्र. पृ. ११. कुंथुपिवीलिउहुंसा उक्कलुद्देहिया तहा। तणहारकट्ठहारा य मालुरा पत्तहारगा ॥ कप्पासट्ठिमि जायंति दुगा तउसमिजगा। सदावरी य गुम्मी य बोधव्वा इन्दगाइया ॥ इन्दगोवगमाईया णेगहा एवमायओ। उत्त. ३६, १३८-१४०.

श्रृणोतीति। ततः पूर्वोक्तहेतुसन्निधाने सति जिघ्रतीति घ्राणम्। कोऽस्य विषयः? गन्धः। अयं गन्धशब्दः कर्मसाधनः। कुतः? यदा द्रव्यं प्राधान्येन विवक्षितं तदा न ततो व्यतिरिक्ताः स्पर्शादयः केचन सन्तीति। एतस्यां विवक्षायां कर्मसाधनत्वं स्पर्शादीनामवसीयते, गन्ध्यत इति गन्धो वस्तु। यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेः औदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनत्वं स्पर्शादीनां युज्यते, गन्धनं गन्ध इति। कुत एतेषामुत्पत्तिरिति चेत्? वीर्यान्तरायस्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वघातिस्पर्धकोदये चाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भे त्रीन्द्रियजातिकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां स्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रियाण्याविर्भवन्ति[1]।

चत्वारि इन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रियाः। के ते? मशकमक्षिकादयः[2]। उक्तं च--

---

शंका-- घ्राण-इन्द्रियका विषय क्या हैं?

समाधान-- इस इन्द्रियका विषय गन्ध है।

यह गन्ध शब्द कर्मसाधन है, क्योंकि, जिस समय प्रधानरूपसे द्रव्य विवक्षित होता है, उस समय द्रव्यसे भिन्न स्पर्शादिक कुछ भी नहीं रहते हैं, इसलिये इस विवक्षामें स्पर्शादिकके कर्मसाधन समझना चाहिये। जैसे, 'जो सूंघा जाय' इस प्रकारकी निरुक्ति करनेपर गन्ध द्रव्यरूप ही पड़ता है। तथा जिस समय प्रधानरूपसे पर्याय विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद बन जाता है, अतएव उदासीनरूपसे अवस्थित जो भाव है, वही कहा जाता है। इस तरह स्पर्शादिकके भावसाधन भी बन जाता है। जैसे सूंघनेरूप क्रियाधर्मको गन्ध कहते हैं।

शंका-- इन तीनों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति किस कारणसे होती है?

समाधान-- वीर्यान्तराय और स्पर्शन, रसना तथा घ्राण-इन्द्रियावरणके क्षयोपशमके होनेपर, शेष इन्द्रियावरण कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय होनेपर, आंगोपांग नामकर्मके उदयके आलम्बन होने पर और त्रीन्द्रियजाति नामकर्मके उदयकी वशवर्तिताके होने पर स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियां उत्पन्न होती है।

जिनके चार इन्द्रियां पाई जाती हैं वे चतुरिन्द्रिय जीव होते हैं।

शंका-- वे चतुरिन्द्रिय जीव कौन कौन हैं?

समाधान-- मच्छर, मक्खी आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं। कहा भी है--

---

१ प्रबन्धोऽयं त. रा. वा. २. १९-२०, वा. १-१ व्याख्याभ्यां समानः।

२ से किं तं चउरिंदिय-संसारसमावन्न-जीवपन्नवणा? २ अणेगविहा पन्नत्ता। तं जहा, अंधिय-पत्तिय-मच्छिय-मसगा कीडे तहा पयंगे य। ढंकुण-कुक्कड-कुक्कुह-नंदावत्ते य सिंगिरडे॥ किण्हपत्ता, नीलपत्ता, लोहियपत्ता, हालिद्दपत्ता, सुक्किल्लपत्ता, चित्तपक्खा, विचित्तपक्खा, ओहंजलिया, जलचारिया, गंभीरा,

मक्कडय-भमर-महुवर-मसय-पदंगा य सलह-गोमच्छी ।
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
मच्छी सदंस कीडा णेया चउरिंदिया जीवा[1] ॥ १३८ ॥

कानि तानि चत्वारीन्द्रियाणीति चेत्स्पर्शनरसनघ्राणचक्षूंषि । स्पर्शनरसनघ्राणानि उक्तलक्षणानि । चक्षुषः स्वरूपमुच्यते । तद्यथा-करणसाधनं चक्षुः । कुतः ? चक्षुषः पारतन्त्र्यात् । इन्द्रियाणां हि लोके पारतन्त्र्यविवक्षा दृश्यते आत्मनः स्वातन्त्र्यविवक्षायाम् । यथानेनाक्ष्णा सुष्ठु पश्यामि, अनेन कर्णेन सुष्ठु श्रृणोमीति । ततो वीर्यान्तरायचक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भाच्चष्टेरने-[2]कार्थत्वाद्दर्शनार्थविवक्षायां चष्टेऽर्थान् पश्यत्यनेनेति चक्षुः । कर्तृसाधनं च[3] भवति स्वातन्त्र्यविवक्षायाम् । इन्द्रियाणां हि लोके स्वातन्त्र्यविवक्षा दृश्यते च, यथेदं[4] मेऽक्षि

मकड़ी, भौंरा, मधु-मक्खी, मच्छर, पतंग, शलभ, गोमक्खी, मक्खी, और दंशसे डशनेवाले कीड़ोंको चतुरिन्द्रिय जीव जानना चाहिये ॥ १३८ ॥

शंका—— वे चार इन्द्रियां कौन कौन हैं ?

समाधान—— स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियां हैं । इसमेंसे स्पर्शन, रसना और घ्राणके लक्षण कह आये । अब चक्षु-इन्द्रियका स्वरूप कहते हैं । वह इस प्रकार है-चक्षु-इन्द्रिय करणसाधन है, क्योंकि, उसकी पारतन्त्र्यविवक्षा है । जिस समय आत्माकी स्वातन्त्र्यविवक्षा होती है, उस समय लोकमें इन्द्रियोंकी पारतन्त्र्यविवक्षा देखी जाती है । जैसे, इस चक्षुसे अच्छी तरह देखता हूं, इस कानसे अच्छी तरह सुनता हूं । इसलिये वीर्यान्तराय और चक्षु इन्द्रियावरणके क्षयोपशम और आंगोपांग नामकर्मके उदयके लाभसे 'चक्षिङ' धातु अनेकार्थक होनेसे यहां पर दर्शनरूप अर्थकी विवक्षा होनेपर 'जिसके द्वारा पदार्थोंको देखता है-वह चक्षु है । तथा स्वातन्त्र्यविवक्षामें चक्षु इन्द्रियके कर्तृसाधन भी होता है, क्योंकि, इन्द्रियोंकी लोकमें स्वातन्त्र्यविवक्षा भी देखी जाती है । जैसे, मेरी यह आंख अच्छी तरह देखती है, यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता है । इसलिये पहले कहे गये हेतुओंके मिलने पर जो देखती है उसे चक्षु-इन्द्रिय कहते हैं ।

चीणिया, तंतवा, अच्छिरोडा, अच्छिवेहा, सारंगा, नेऊरा, दोला, भमरा, भरिली, जरुला, तोट्ठा, विछुया, पत्तविच्छुया, छाणविच्छुया, जलविच्छुया, पियंगाला, कणगा, गोमयकीडा, जे यावन्ने तहप्पगारा । प्रज्ञा. १. ४६.

१ प्रा. पं. १, ७२ पाठभेदः अंधिया पोत्तिया चेव मच्छिया मसगा तहा । भमरे कीडपयंगे य ढंकुणे उक्कुडो तहा ॥ कुक्कुडे भिंगिरीडी य नंदावत्ते य विच्छुए । टोले भिंगारी य वियडी अच्छिवेहए ॥ अच्छिले माहए अच्छिरोडए विचित्ते चित्तपत्तए । उहिंजलिया जलकारी य नोया तंतवयाइया ॥ इय चउरिंदिया एएऽणेगहा एवमायओ ॥ उत्त. ३६, १४७, १५०.

२ मु. वष्टम्भाच्चक्षुः । अनेकार्थं ।   ३ मु. चक्षुषः कर्तृसाधनं च ।

४ मु. विवक्षा च दृश्यते यथेदं ।

सुष्ठु पश्यति, अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोतीति। ततः पूर्वोक्तहेतुसन्निधाने सति चष्ट इति चक्षुः। कोऽस्य विषयश्चेद्वर्णः। अयं वर्णशब्दः कर्मसाधनः। यथा यदा द्रव्यं प्राधान्येन विवक्षितं तदेन्द्रियेण द्रव्यमेव सन्निकृष्यते, न ततो व्यतिरिक्ताः स्पर्शादयः सन्तीत्येतस्यां विवक्षायां कर्मसाधनत्वं स्पर्शादीनामवसीयते, वर्ण्यत इति वर्णः। यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेरौदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनत्वं स्पर्शादीनां युज्यते वर्णनं वर्णः। कुत एतेषामुत्पत्तिश्चेद्वीर्यान्तरायस्पर्शनरसनघ्राणचक्षुरावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वघातिस्पर्धकोदये चाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भे चतुरिन्द्रियजातिकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां चतुर्णामिन्द्रियाणामाविर्भावो भवेत्[1]।

पञ्च इन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रियाः। के ते? जरायुजाण्डजादयः। उक्तं च—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका— इस इन्द्रियका विषय क्या है।

समाधान— वर्ण इस इन्द्रियका विषय है। यह वर्ण शब्द कर्मसाधन है। जैसे, जिस समय प्रधानरूपसे द्रव्य विवक्षित होता है, उस समय इन्द्रियसे द्रव्यका ही ग्रहण होता है, क्योंकि, उससे भिन्न स्पर्शादिक पर्यायें नहीं पाई जाती हैं। इसलिये इस विवक्षामें स्पर्शादिकके कर्मसाधन जाना जाता है। उस समय जो देखा जाय उसे वर्ण कहते हैं, ऐसी निरुक्ति करनी चाहिये। तथा जिस समय पर्याय प्रधानरूपसे विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद बन जाता है, इसलिये उदासीनरूपसे अवस्थित जो भाव है, उसीका कथन किया जाता है। अतएव स्पर्शादिकके भावसाधन भी बन जाता है। उस समय देखनेरूप धर्मको वर्ण कहते हैं ऐसी निरुक्ति होती है।

शंका— इन चारों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति किस कारणसे होती है?

समाधान— वीर्यान्तराय और स्पर्शन, रसना, घ्राण तथा चक्षु इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम, शेष इन्द्रियावरण सर्वघाती स्पर्द्धकोंका उदय, आंगोपांग नामकर्मके उदयका आलम्बन और चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयकी वशवर्तिताके होनेपर चार इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है।

जिनके पांच इन्द्रियाँ होती हैं उन्हें पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं।

शंका— ये पंचेन्द्रिय जीव कौन कौन हैं?

समाधान— जरायुज और अण्डज आदिक पंचेन्द्रिय जीव हैं। कहा भी है—

स्वेदज, संमूर्च्छिम, उद्भिज्ज, औपपादिक, रसज, पोत, अंडज और जरायुज, ये सब पंचेन्द्रिय जीव जानना चाहिये ॥ १३९ ॥

---

१ सन्दर्भोऽयं त. रा. वा. २. १९–२० वा. १–१. व्याख्याभ्यां समानः।

संसेदिम[1]-सम्मुच्छिम-उब्भेदिम-ओववादिया[2] चेव।
रस-पोतंडजजरजा[3] पंचिंदिया जीवा[4] ॥ १३९ ॥

कानि तानि पञ्चापीन्द्रियाणीति चेत् ?- स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि। इमानि स्पर्शनादीनि करणसाधनानि। कुतः ? पारतन्त्र्यात्। इन्द्रियाणां हि लोके दृश्यते च पारतन्त्र्यविवक्षा आत्मनः स्वातन्त्र्यविवक्षायाम्, अनेनाक्ष्णा सुष्ठु पश्यामि, अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमीति। ततो वीर्यान्तरायश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्ग-नामलाभावष्टम्भाच्छृणोत्यनेनेति श्रोत्रम्। कर्तृसाधनं च भवति स्वातन्त्र्यविवक्षायाम्। दृश्यते चेन्द्रियाणां लोके स्वातन्त्र्यविवक्षा, इदं मेऽक्षि सुष्ठु पश्यति, अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोतीति। ततः पूर्वोक्तहेतुसन्निधाने सति शृणोतीति श्रोत्रम्। कोऽस्य विषयः ? शब्दः। यदा द्रव्यं प्राधान्येन विवक्षितं तदेन्द्रियेण द्रव्यमेव सन्निकृष्यते, न ततो व्यतिरिक्ताः स्पर्शादयः केचन सन्तीति एतस्यां विवक्षायां कर्मसाधनत्वं शब्दस्य

शंका— वे पाँचोंही इन्द्रियां कौन कौन हैं ?

समाधान— स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। ये स्पर्शनादिक इन्द्रियां करण-साधन हैं, क्योंकि, वे परतन्त्र देखी जाती हैं,। लोकमें आत्माकी स्वातन्त्र्यविवक्षा होनेपर इन्द्रियोंकी पारतन्त्र्यविवक्षा देखी जाती है। जैसे, मैं इस आंखसे अच्छी तरह देखता हूं, इस कानसे अच्छी तरह सुनता हूं। इसलिये वीर्यान्तराय और श्रोत्र इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम तथा आंगोपांग नामकर्मके आलम्बनसे जिसके द्वारा सुना जाता है, उसे श्रोत्र-इन्द्रिय कहते हैं। तथा स्वातन्त्र्यविवक्षामें कर्तृसाधन होता है, क्योंकि, लोकमें इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्यविवक्षा भी देखी जाती है। जैसे, यह मेरी आँख अच्छी तरह देखती है, यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता है। इसलिये पहले कहे गये हेतुओंके मिलने पर जो सुनती है उसे श्रोत्र-इन्द्रिय कहते हैं।

शंका— इसका विषय क्या है ?

समाधान— शब्द इसका विषय है। जिस समय प्रधानरूपसे द्रव्य विवक्षित होता है, उस समय इन्द्रियोंके द्वारा द्रव्यका ही ग्रहण होता है। उससे भिन्न स्पर्शादिक कोई चीज

१ मु. सस्सेदिम।   २ अ. ब. प्रतौ ओपमादिया चेय।

३ मु. रस. पोदंडजरायुज।

४ प्रा. पं. १, ७३ पाठभेदः से. बेमि संतिमे तसा पाणा, तं जहा, अंडया पोयया जराउआ रसया संसेयया संमुच्छिमा उब्भियया उववाइया, एस संसारेत्ति पवुच्चइ। आचा. सू. ४९. उपेत्युपपद्यतेऽस्मिन्नि-त्युपपादः। त. रा. वा. पृ. ९८. उपपाताज्जाता उपपातजाः। अथवा उपपाते भवा औपपातिका देवा नारकाश्च। आचा. नि. पृ. ६३. सम्पूर्णावयवः परिस्पंदादिसामर्थ्योपलक्षितः पोतः। शुक्रशोणितपरिवरणमुपात्तकाठिन्यं नखत्वक्सदृशं परिमंडलमंडं, अंडे जाताः अंडजाः। जालवत्प्राणिपरिवरणं विततमांसशोणितं जरायुः, जरायौ जाताः जरायुजाः। त. रा. वा. पृ. १००, १०१.   ५ मु. पञ्चेन्द्रियाणीति।

युज्यत इति, शब्द्यत इति शब्दः। यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेः औदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनः[1] शब्दः, शब्दनं शब्द इति[2]। कुत एतेषामाविर्भाव इति चेद्वीर्यान्तरायस्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियावरण-क्षयोपशमे सति अङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भे पञ्चेन्द्रियजातिकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां पञ्चानामिन्द्रियाणामाविर्भावो भवेत्[3]। नेदं व्याख्यानमत्र प्रधानम्, ‘एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयादेकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिया भवन्ति’ इति भावसूत्रेण सह विरोधात्। ततः एकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयादेकेन्द्रियः, द्वीन्द्रियजाति-नामकर्मोदयाद् द्वीन्द्रियः, त्रीन्द्रियजातिनामकर्मोदयात् त्रीन्द्रियः, चतुरिन्द्रियजातिनाम-कर्मोदयाच्चतुरिन्द्रियः, पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्पञ्चेन्द्रियः, एषोऽर्थोऽत्र प्रधानम्, निरवद्यत्वात्।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नहीं है। इस विवक्षामें शब्दके कर्मसाधनपना बन जाता है। जैसे, ‘शब्द्यते’ अर्थात् जो ध्वनिरूप हो वह शब्द है। तथा जिस समय प्रधानरूपसे पर्याय विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद सिद्ध हो जाता है, अतएव उदासीनरूपसे अवस्थित भावका कथन किया जानेसे शब्द भावसाधन भी है। जैसे, ‘शब्दनम् शब्दः’ अर्थात् ध्वनिरूप क्रियाधर्मको शब्द कहते हैं।

शंका— इन पांचों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति कैसे होती है ?

समाधान— वीर्यान्तराय और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत्रेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम होने पर, आंगोपांग नामकर्मके आलम्बन होने पर, तथा पंचेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयकी वशवर्तिताके होने पर पांचों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। फिर भी वीर्यान्तराय और स्पर्शन इन्द्रियावरण आदिके क्षयोपशमसे एकेन्द्रिय आदि जीव होते हैं, यह व्याख्यान यहां पर प्रधान नहीं है, क्योंकि, ‘एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव होते हैं’ भावानुगमके इस कथनसे पूर्वोक्त कथनका विरोध आता है। इसलिये एकेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं, यही अर्थ यहां पर प्रधान है, क्योंकि, यह कथन निर्दोष है।

जिनके इन्द्रियां नहीं पाई जातीं हैं उन्हें अनिन्द्रिय जीव कहते हैं।

शंका— वे कौन हैं ?

---

१ मु. साधनं। २ प्रकरणोऽयं त. रा. वा. २. १९-२० वा. १-१ व्याख्याभ्यां समानः।
३ म. भवेदिति।

न सन्तीन्द्रियाणि येषां तेऽनिन्द्रियाः । के ते ? अशरीराः सिद्धाः । उक्तं च—

ण वि इंदिय-करण-जुदा अवग्गहादीहि गाहया अत्थे ।
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
[illegible]ाण-सुहा[1] ॥ १४० ॥

तेषु सिद्धेषु भावेन्द्रियस्योपयोगस्य सत्त्वात्सेन्द्रियास्त इति चेन्न, क्षयोपशमजनितस्योपयोगस्येन्द्रियत्वात् । न च क्षीणाशेषकर्मसु सिद्धेषु क्षयोपशमोऽस्ति, तस्य क्षायिकभावेनापसारितत्वात् ।

एकेन्द्रियविकल्पप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

एइंदिया दुविहा, बादरा सुहुमा । बादरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता ॥ ३४ ॥

एकेन्द्रियाः द्विविधाः– बादराः सूक्ष्मा इति । बादरशब्दः स्थूलपर्यायः, स्थूलत्वं चानियतम् ततो न ज्ञायते के स्थूला इति । चक्षुर्ग्राह्याश्चेन्न, अचक्षुर्ग्राह्याणां स्थूलानां सूक्ष्मतापत्तेः[1] । अचक्षुर्ग्राह्याणामपि बादरत्वे सूक्ष्मबादराणामविशेषः स्यादिति चेन्न,

---

समाधान— शरीररहित सिद्ध अनिन्द्रिय हैं । कहा भी है—

वे सिद्ध जीव इन्द्रियोंके व्यापारसे युक्त नहीं हैं और अवग्रहादिक क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा पदार्थोंको ग्रहण नहीं करते हैं । उनके इन्द्रिय-सुख भी नहीं है, क्योंकि, उनका अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख अनिन्द्रिय हैं ॥ १४० ॥

शंका— उन सिद्धोंमें भावेन्द्रिय और तज्जन्य उपयोग पाया जाता है, इसलिये वे इन्द्रियसहित हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए उपयोगको इन्द्रिय कहते हैं । परंतु जिनके संपूर्ण कर्म क्षीण हो गये हैं, ऐसे सिद्धोंमें क्षयोपशम नहीं पाया जाता है, क्योंकि, वह क्षायिक भावके द्वारा दूर कर दिया जाता है ।

अब एकेन्द्रिय जीवोंके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

एकेन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं– बादर और सूक्ष्म । बादर एकेन्द्रिय दो प्रकारके हैं– पर्याप्त और अपर्याप्त । सूक्ष्म एकेन्द्रिय दो प्रकारके हैं– पर्याप्त और अपर्याप्त ॥ ३४ ॥

एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्मके भेदसे दो प्रकारके हैं ।

शंका— बादर शब्द स्थूलका पर्यायवाची है, और स्थूलता नियत नहीं है, इसलिये यह मालूम नहीं पडता है, कि कौन कौन जीव स्थूल हैं । जो चक्षु इन्द्रियके द्वारा ग्रहण करने योग्य हैं वे स्थूल हैं, यदि ऐसा कहा जावे सो भी नहीं बनता है, क्योंकि, ऐसा माननेपर, जो

---

१ प्रा. पं. १, ७४ । गो. जी. १७४. १ सूक्ष्मतोपपत्तेः ।

आर्षस्वरूपानवगमात् । बादरशब्दोऽयं स्थूलपर्यायः, अपि तु बादरनाम्नः कर्मणो
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
वाचकः । तदुदयसहचरितत्वाज्जीवोऽपि बादरः । शरीरस्य स्थौल्यनिर्वर्तकं कर्म बादरमुच्यते । सौक्ष्म्यनिर्वर्तकं कर्म सूक्ष्मम्[1] । तथा च चक्षुषाऽग्राह्यं[2] सूक्ष्मशरीरम्, तद्ग्राह्यं बादरमिति तद्वतां तद्वयपदेशो हठादास्कन्देत् । ततश्चक्षुर्ग्राह्या बादराः, अचक्षुर्ग्राह्याः सूक्ष्मा[3] इति तेषामेताभ्यामेव भेदः समापतेदन्यथा[4] तेषामविशेषतापत्तेरिति चेन्न स्थूलाश्च भवन्ति चक्षुर्ग्राह्याश्च न भवन्ति, को विरोधः स्यात् ? सूक्ष्मजीवशरीरादसंख्येयगुणं शरीरं बादरम्, तद्वन्तो जीवाश्च बादराः । ततोऽसंख्येयगुणहीनं शरीरं सूक्ष्मम्, तद्वन्तो जीवाश्च सूक्ष्मा उपचारादित्यपि कल्पना न साध्वी, सर्व-

---

स्थूल जीव चक्षु इन्द्रियके द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं हैं उन्हें सूक्ष्मपनेकी आपत्ति प्राप्त होती है । और जिनका चक्षु इन्द्रियसे ग्रहण नहीं हो सकता है ऐसे जीवोंकोभी बादर मान लेनेपर सूक्ष्म और बादरोंमें कोई भेद नहीं रह जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यह आशंका आर्षके स्वरूपकी अनभिज्ञताकी द्योतक है। यह बादर शब्द स्थूलका पर्यायवाची नहीं है, किंतु बादर नामक नामकर्मका वाचक है, इसलिये उस बादर नामकर्मके उदयके संबन्धसे जीव भी बादर कहा जाता है ।

शंका— शरीरकी स्थूलताको उत्पन्न करनेवाले कर्मको बादर और सूक्ष्मताको उत्पन्न करनेवाले कर्मको सूक्ष्म कहते हैं । ऐसी अवस्थामें जो चक्षु इन्द्रियके द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है वह सूक्ष्म शरीर है, और जो उसके द्वारा ग्रहण करने योग्य है वह बादर शरीर है, अतः सूक्ष्म और बादर कर्मके उदयवाले सूक्ष्म और बादर शरीरसे युक्त जीवोंको सूक्ष्म और बादर संज्ञा हठात् प्राप्त हो जाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो चक्षुसे ग्राह्य हैं वे बादर हैं, और जो चक्षुसे अग्राह्य हैं वे सूक्ष्म हैं । सूक्ष्म और बादर जीवोंके इन पूर्वोक्त लक्षणोंसे ही भेद प्राप्त हो जाता है। यदि पूर्वोक्त लक्षण न माने जायं, तो सूक्ष्म और बादरोंमें कोई भेद नहीं रह जाता है?

समाधान— ऐसा नहीं हैं, क्योंकि, स्थूल तो हों और चक्षुसे ग्रहण करने योग्य न हों, इस कथनमें क्या विरोध है ।

शंका— सूक्ष्म जीव शरीरसे असंख्यातगुणी अधिक अवगाहनाले शरीरको बादर कहते हैं, और उस शरीरसे युक्त जीवोंको उपचारसे बादर कहते हैं । अथवा, बादर शरीरसे असंख्यात गुणी हीन अवगाहनावाले शरीरको सूक्ष्म कहते है और उस शरीरसे युक्त जीवोंको उपचारसे सूक्ष्म कहते हैं ?

---

१ यदुदयादन्यबाधाकरशरीरं भवति तद् बादरनाम । सूक्ष्मशरीरनिर्वर्तकं सूक्ष्मनाम । गो. क., जी. प्र., टी. ३३. स. सि. ८-११.   २ मु. तथापि चक्षुषोऽग्राह्यं ।

३ यदुदयाद् जीवानां चक्षुर्ग्राह्यशरीरत्वलक्षणं बादरत्वं भवति तद् बादरनाम, पृथीव्यादेरेकैकशरीरस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वाभावेऽपि बादरत्वपरिणामविशेषाद् बहूनां समुदाये चक्षुषा ग्रहणं भवति । तद्विपरीतं सूक्ष्मनाम, यदुदयाद् बहूनां समुदितानामपि जन्तुशरीराणां चक्षुर्ग्राह्यता न भवति । क. प्र. पृ. ७.

४ मु. समापतद ।

जघन्यबादराङ्गात्सूक्ष्मकर्मनिर्वर्तितस्य सूक्ष्मशरीरस्यासंख्येयगुणत्वतोऽनेकान्तात् । ततो बादरकर्मोदयवन्तो बादराः, सूक्ष्मकर्मोदयवन्तो सूक्ष्मा इति सिद्धम् । कोऽनयोः कर्मणोरुदययोर्भेदश्चेत्? मूर्तैरन्यैः प्रतिहन्यमानशरीरनिर्वर्तको बादरकर्मोदयः, अप्रतिहन्यमानशरीरनिर्वर्तकः सूक्ष्मकर्मोदय इति तयोर्भेदः[1]। सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मजीवानां शरीरमन्यैर्न मूर्तद्रव्यैरभिहन्यते ततो न तदप्रतिघातः[2] सूक्ष्मकर्मणो विपाकादिति चेन्न, अन्यैरप्रतिहन्यमानत्वेन प्रतिलब्धसूक्ष्मव्यपदेशभाजः सूक्ष्मशरीरादसंख्येयगुणहीनस्य बादरकर्मोदयतः प्राप्तबादरव्यपदेशस्य सूक्ष्मत्वं प्रत्यविशेषतोऽप्रतिघाततापत्तेः। अस्तु चेन्न, सूक्ष्मबादरकर्मोदययोरविशेषतापत्तेः । सूक्ष्मशरीरोपादायकः सूक्ष्मकर्मोदयश्चेन्न,

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समाधान— यह कल्पना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, सबसे जघन्य बादर शरीरसे सूक्ष्म नामकर्मके द्वारा निर्मित सूक्ष्म शरीरकी अवगाहना असंख्यातगुणी होनेसे उक्त कथनमें अनेकान्त दोष आता है । इसलिये जिन जीवोंके बादर नामकर्मका उदय पाया जाता है वे बादर हैं, और जिनके सूक्ष्म नामकर्मका उदय पाया जाता है वे सूक्ष्म हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है ।

शंका— सूक्ष्म नामकर्मके उदय और बादर नामकर्मके उदयमें क्या भेद है ?

समाधान— बादर नामकर्मका उदय दूसरे मूर्त पदार्थोंसे आघात करने योग्य शरीरको उत्पन्न करता है । और सूक्ष्म नामकर्मका उदय दूसरे मूर्त पदार्थोंके द्वारा आघात नहीं करने योग्य शरीरको उत्पन्न करता है । यही उन दोनोंमें भेद है ।

शंका— सूक्ष्म जीवोंका शरीर सूक्ष्म होनेसे ही अन्य मूर्त द्रव्योंके द्वारा आघातको प्राप्त नहीं होता है, इसलिये मूर्त द्रव्योंके साथ प्रतिघातका नहीं होना सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे नहीं मानना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, ऐसा माननेपर दूसरे मूर्त पदार्थोंके द्वारा आघातको नहीं प्राप्त होनेसे सूक्ष्म संज्ञाको प्राप्त होनेवाले सूक्ष्म शरीरसे असंख्यातगुणी हीन अवगाहनावाले, और बादर नामकर्मके उदयसे बादर संज्ञाको प्राप्त होनेवाले बादर शरीरकी सूक्ष्मताके प्रति कोई विशेषता नहीं रह जाती है, अतएव उसका भी मूर्त पदार्थोंसे प्रतिघात नहीं होगा ऐसी आपत्ति आजायगी ।

शंका— आजाने दो ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, ऐसा माननेपर सूक्ष्म और बादर नामकर्मके उदयमें फिर कोई विशेषता नहीं रह जायगी ।

शंका— सूक्ष्म नामकर्मका उदय सूक्ष्म शरीरको उत्पन्न करनेवाला है, इसलिये उन दोनोंके उदयमें भेद है ?

---

१ बादरसुहुमुदयेण य बादरसुहुमा हवंति तद्देहा । घादसरीरं थूलं अघाददेहं हवे सुहुमं ॥ गो. जी. १८३

२ मु. तत्प्रतिघातः

तस्मादप्यसंख्येयगुणहीनस्य बादरकर्मनिर्वर्तितस्य शरीरस्योपलम्भात्। तत्कुतोऽवसीयत इति चेद्वेदनाक्षेत्रविधानसूत्रात् । तद्यथा—

'सव्वत्थोवा सुहुमणिगोदजीवअपज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा । सुहुमवाउ-सुहुमतेउ-सुहुमआउ-सुहुमपुढवि-अपज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । बादरवाउ-बादरतेउ-बादरआउ-बादरपुढवि-बादरणिगोदजीव-[1]बादरवणप्फदिकाइयपत्तेयसरीर-अपज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । बेइंदियतेइंदिय-चउरिंदिय-पंचिंदिय-अपज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । सुहुम-णिगोदपज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । तस्सेव अपज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा विसेसाहिया । तस्सेव पज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा विसेसाहिया । सुहुमवाउकाइय-सुहुमतेउकाइय-सुहुमआउकाइय-सुहुमपुढविकाइय-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समाधान— नहीं, क्योंकि, सूक्ष्म शरीरसे भी असंख्यातगुणी हीन अवगाहनावाले और बादर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए बादर शरीरकी उपलब्धि होती है ।

शंका— यह किस प्रमाणसे जाना जाता है ?

समाधान— वेदना नामक चौथे खण्डागमके क्षेत्रानुयोगद्वारसंबन्धी सूत्रोंसे जाना जाता है । वे इस प्रकार हैं—

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहना सबसे स्तोक (थोड़ी) है । सूक्ष्म वायुकायिक, सूक्ष्म अग्निकायिक, सूक्ष्म जलकायिक और सूक्ष्म पृथिविकायिक लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंकी जघन्य अवगाहना सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तककी जघन्य अवगाहनासे उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी है । सूक्ष्म पृथिवीकायिक लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहनासे बादर वायुकायिक, बादर अग्निकायिक, बादर जलकायिक, बादर पृथिवीकायिक, बादरनिगोद और सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंकी जघन्य अवगाहना उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी है । सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहनासे अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंकी जघन्य अवगाहना उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी है । लब्ध्यपर्याप्तक पंचेन्द्रिय जीवकी जघन्य अवगाहनासे सूक्ष्म निगोदिया पर्याप्तककी जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है । इससे सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तककी उत्कृष्ट अवगाहना कुछ अधिक है । इससे सूक्ष्म निगोदिया पर्याप्तककी उत्कृष्ट अवगाहना कुछ अधिक है । इससे सूक्ष्म वायुकायिक पर्याप्तककी जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है । इससे सूक्ष्म वायुकायिक अपर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है । इससे सूक्ष्म वायुकायिक पर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहना विशेष

१ बादरणिगोदपदिट्ठिदपज्जत्ता किमिदि सुत्तम्हि ण वुत्ता ? ण, तेसिं पत्तेयसरीरेसु अंतब्भावादो । धवला अ. पृ. २५०.

पज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । तस्सेव अपज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा विसेसाहिया । तस्सेव पज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा विसेसाहिया । बादरवाउकाइय-बादरतेउकाइय-बादरआउकाइय-बादरपुढविकाइय-बादरणिगोदजीव-पज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । तस्सेव अपज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा विसेसाहिया । तस्सेव पज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा विसेसाहिया । बादरवणप्फदिकाइयपत्तेयसरीरपज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । बेइंदिय-पज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । तेइंदिय-चउरिंदिय-पंचिदिय-पज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा संखेज्जगुणा । तेइंदिय-चउरिंदिय-बेइंदिय-बादरवणप्फदिकाइयपत्तेयसरीर-पंचिदिय-अपज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा संखेज्जगुणा । तेइंदिय-चउरिंदिय-बेइंदिय-बादरवणप्फदिकाइयपत्तेयसरीर-पंचिदिय पज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा संखेज्जगुणा[1] त्ति ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

परैर्मूर्तद्रव्यैरप्रतिहन्यमानशरीरनिर्वृत्तकं सूक्ष्मकर्म । तद्विपरीतशरीरनिर्वृत्तकं बादरकर्मेति स्थितम् । तत्र बादराः सूक्ष्माश्च द्विविधाः पर्याप्ताः अपर्याप्ता इति ।

अधिक है । इसी तरह सूक्ष्म वायुकायिकसे सूक्ष्म अग्निकायिक, उससे सूक्ष्म जलकायिक, उससे सूक्ष्म पृथिवीकायिक संबन्धी प्रत्येकको क्रमसे, पर्याप्त, अपर्याप्त और पर्याप्तसंबन्धी जघन्य, उत्कृष्ट और उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी, विशेषाधिक और विशेषाधिक समझ लेना चाहिये । इसी तरह सूक्ष्मपृथिवीकायिक पर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहनासे बादर वायुकायिक, उससे बादर अग्निकायिक, उससे बादर जलकायिक उससे बादर पृथिवीकायिक, उससे बादर निगोद जीव और उससे निगोदप्रतिष्ठित वनस्पतिकायिकसंबन्धी प्रत्येकको क्रमसे पर्याप्त, अपर्याप्त और पर्याप्तसम्बन्धी जघन्य, उत्कृष्ट और उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी, विशेषाधिक और विशेषाधिक समझना चाहिये । सप्रतिष्ठित प्रत्येककी उत्कृष्ट अवगाहनासे बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येकशरीर पर्याप्तककी जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है । इससे द्वीन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य अवगाहना असंख्यात गुणी है । इससे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य अवगाहना उत्तरोत्तर संख्यातगुणी है । पंचेन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य अवगाहनासे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येकशरीर और पंचेन्द्रिय अपर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोतर संख्यातगुणी है । पंचेन्द्रिय अपर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहनासे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर और पंचेन्द्रिय पर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर संख्यातगुणी है ।

इस पूर्वोक्त कथनसे यह बात सिद्ध हुई कि जिसका मूर्त पदार्थोंसे प्रतिघात नहीं होता है ऐसे शरीरको निर्माण करनेवाला सूक्ष्म नामकर्म है, और उससे विपरीत अर्थात् मूर्त पदार्थोंसे प्रतिघातको प्राप्त होनेवाले शरीरको निर्माण करनेवाला बादर नामकर्म है ।

---

१ मु. तस्सेव पज्जत्तयस्स वि. संखेज्जगुणा.

पर्याप्तकर्मोदयवन्तः पर्याप्ताः। तदुदयवतामनिष्पन्नशरीराणां कथं पर्याप्तव्यपदेशो घटत इति चेन्न, नियमेन शरीरनिष्पादकानां भाविनि भूतवदुपचारतस्तदविरोधात् पर्याप्तनामकर्मोदयसहचाराद्वा। यदि पर्याप्तशब्दो निष्पत्तिवाचकः, कैस्ते निष्पन्ना इति चेत्पर्याप्तिभिः। कियत्यस्ता इति चेत्सामान्येन षड् भवन्ति-आहारपर्याप्तिः शरीरपर्याप्तिः इन्द्रियपर्याप्तिः आनापानपर्याप्तिः भाषापर्याप्तिः मनःपर्याप्तिरिति।

तत्राहारपर्याप्तेरर्थ उच्यते- शरीरनामकर्मोदयात् पुद्गलविपाकिन आहारवर्गणागतपुद्गलस्कन्धः समवेतानन्तपरमाणुनिष्पादिता आत्मावष्टब्धक्षेत्रस्थाः कर्म-

---

विशेषार्थ--- यहां जो सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तककी जघन्य अवगाहनासे लेकर पंचेन्द्रिय पर्याप्ततक जीवोंकी उत्कृष्ट अवगाहनाका क्रम बतला आये हैं, उसे देखते हुए यह सिद्ध होता है कि सूक्ष्म जीवोंकी मध्यम अवगाहना बादरोंसे भी अधिक होती है। इसलिये छोटी बड़ी अवगाहनासे स्थूलता और सूक्ष्मता न मानकर स्थूल और सूक्ष्म कर्मके उदयसे सप्रतिघात और अप्रतिघातवाले शरीरको बादर और सूक्ष्म कहते हैं। तथा यहां जो वेदनाखण्डके सूत्र उद्धृत किये हैं उनमें सप्रतिष्ठित बादर वनस्पतिसे अप्रतिष्ठित बादर वनस्पतिका स्थान स्वतंत्र माना है। फिर भी यहां 'सव्वत्थोवा' इत्यादि उद्धृत सूत्रमें सप्रतिष्ठितके स्थानको अप्रतिष्ठितके स्थानमें अन्तर्भूत करके सप्रतिष्ठित वनस्पतिका स्वतन्त्र स्थान नहीं बतलाया है।

इनमें, बादर और सूक्ष्म दोनों ही प्रत्येक दो दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त। उनमेंसे जो पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त हैं उन्हें पर्याप्त कहते हैं।

शंका--- पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त होते हुए भी जब तक शरीर निष्पन्न नहीं हुआ है तब तक उन्हें पर्याप्त कैसे कह सकते है ?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, नियमसे शरीरको उत्पन्न करनेवाले जीवोंके, होनेवाले कार्यमें यह कार्य हो गया, इस प्रकार उपचार कर लेनेसे पर्याप्त संज्ञा करनेमें कोई विरोध नहीं आता है। अथवा, पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त होनेके कारण पर्याप्त संज्ञा दी गई है।

शंका--- यदि पर्याप्त शब्द निष्पत्ति वाचक है तो यह बतलाइये कि ये पर्याप्तजीव किनसे निष्पन्न होते हैं।

समाधान--- पर्याप्तियोंसे निष्पन्न होते हैं।

शंका--- ये पर्याप्तियां कितनी हैं ?

समाधान--- सामान्यकी अपेक्षा छह हैं- आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, आनापानपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति। इनमेंसे, पहले आहारपर्याप्तिका अर्थ कहते है- शरीर नामकर्मके उदयसे जो परस्पर अनन्त परमाणुओंके संबन्धसे उत्पन्न हुए हैं, और जो आत्मासे व्याप्त आकाश क्षेत्रमें स्थित हैं ऐसे पुद्गलविपाकी आहारवर्गणासंबन्धी

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

स्कन्धसम्बन्धतो मर्तीभतमात्मानं समवेतत्वेन समाश्रयन्ति। तेषामुपगतानां पुद्गलस्कन्धानां खलरसपर्यायैः [1]परिणमनशक्तेर्निमित्तानामाप्तिराहारपर्याप्तिः। सा च नान्तर्मुहुर्तमन्तरेण समयेनैकेनैवोपजायते, आत्मनोऽक्रमेण तथाविधपरिणामाभावात्। शरीरोपादानप्रथमसमयादारभ्यान्तर्मुहूर्तेना[2]हारपर्याप्तिर्निष्पद्यत इति यावत्। तं खलभागं तिलखलोपममस्थ्यादिस्थिरावयवैस्तिलतैलसमानं रसभागं रसरुधिरवसाशुक्रादिद्रवावयवैरौदारिकादिशरीरत्रयपरिणमन[3]शक्त्युपेतानां स्कन्धानामवाप्तिः[4] शरीरपर्याप्तिः। साहारपर्याप्तेः पश्चादन्तर्मुहूर्तेन निष्पद्यते। योग्यदेशस्थितरूपादिविशिष्टार्थग्रहणशक्त्युत्पत्तेर्निमित्तपुद्गलप्रचयावाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः[5]। सापि ततः पश्चादन्तर्मुहूर्तादुपजायते। न चेन्द्रियनिष्पत्तौ सत्यामपि तस्मिन् क्षणे बाह्यार्थविषयविज्ञानमुत्पद्यते, तदा तदुपकरणाभावात्। उच्छ्वासनिस्सारण[6]शक्तेर्निष्पत्तिनिमित्तपुद्गलप्रचयावाप्तिरानापानपर्याप्तिः। एषापि तस्मादन्तर्मुहूर्तकाले समतीते भवेत्। भाषावर्गणायाः[7] स्कन्धानुचतुर्विधभाषाकारेण [8]परिणमनशक्तेर्निमित्तनोकर्मपुद्गल-

---

पुद्गलस्कन्ध, कर्मस्कन्धके संबन्धसे कथंचित् मूर्तपनेको प्राप्त हुए आत्माके साथ समवायरूपसे संबन्धको प्राप्त होते हैं, उनको खल और रसभाग पर्यायरूप परिणमन करनेरूप शक्तिको निमित्तभूत आगत पुद्गलस्कन्धोंकी प्राप्तिको आहारपर्याप्ति कहते हैं। वह आहारपर्याप्ति अन्तर्मुहूर्तके बिना केवल एक समयमें उत्पन्न नहीं हो जाती है, क्योंकि, आत्माका एकसाथ उस प्रकारका परिणाम नहीं हो सकता है। शरीरको ग्रहण करनेके प्रथम समयसे लेकर एक अन्तर्मुहूर्तमें आहारपर्याप्ति निष्पन्न होती है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। तिलकी खलीके समान उस खलभागको हड्डी आदि कठिन अवयवरूपसे और तिलके तैलके समान रसभागको रस, रुधिर, वसा, वीर्य आदि द्रव अवयवरूपसे परिणमन करनेवाले औदारिक आदि तीन शरीरोंकी शक्तिसे युक्त पुद्गलस्कन्धोंकी प्राप्तिको शरीर पर्याप्ति कहते हैं। वह शरीर पर्याप्ति आहार पर्याप्तिके पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण होती है। योग्य देशमें स्थित रूपादिसे युक्त पदार्थोंके ग्रहण करनेरूप शक्तिकी उत्पत्तिके निमित्तभूत पुद्गलप्रचयकी प्राप्तिको इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं। यह इन्द्रिय पर्याप्ति भी शरीर पर्याप्तिके पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण होती है। परंतु इन्द्रिय पर्याप्तिके पूर्ण हो जानेपर भी उसी समय बाह्य पदार्थसंबन्धी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि, उस समय उसके उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय नहीं पाई जाती है। उच्छ्वास और निःश्वास-

---

१ परिणमनशक्तेर्निष्पत्तिराहारपर्याप्तिः।

२ आहारपर्याप्तिश्च प्रथमसमय एव निष्पद्यते × × × आहारपर्याप्त्या अपर्याप्तो विग्रहगतावेवोत्पद्यते नोपपातक्षेत्रमागतोऽपि, उपपातक्षेत्रमागतस्य प्रथमसमय एवाहारकत्वात्। तत एकसामयिकी आहारपर्याप्तिनिर्वृत्तिः। नं. सू. १७ टी.

३ मु. परिणाम

४ परिणमनशक्तेर्निष्पत्तिः शरीरपर्याप्तिः।

५ विशिष्टार्थग्रहणशक्तेर्निष्पत्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः।

६ मु. निःसरण

७ मु. स्कंधाच्चतु

८ परिणमनशक्तेर्निष्पत्तिः भाषापर्याप्तिः।

प्रचयावाप्तिर्भाषापर्याप्तिः । एषापि पश्चादन्तर्मुहुर्तादुपजायते । मनोवर्गणास्कन्धनिष्पन्नपुद्गलप्रचयः अनुभूतार्थस्मरणशक्तिनिमित्तः मनःपर्याप्तिः[1] । एतासां प्रारम्भोऽक्रमेण, जन्मसमयादारभ्य तासां सत्त्वाभ्युपगमात् । निष्पत्तिस्तु पुनः क्रमेण[2] । एतासामनिष्पत्तिरपर्याप्तिः[3]।

पर्याप्तिप्राणयोः को भेद इति चेन्न, अनयोर्हिमवद्विन्ध्ययोरिव भेदोपलम्भात्। यत आहारशरीरेन्द्रियानापानभाषामनःशक्तीनां निष्पत्तेः कारणं पर्याप्तिः । प्राणिति एभिरात्मेति प्राणाः पञ्चेन्द्रियमनोवाक्कायानापानायूंषि[1] इति । भवन्त्विन्द्रियायुष्कायाः प्राणव्यपदेशभाजः तेषामाजन्मन आमरणाद्भवधारणत्वेनोपलम्भात् ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

रूप शक्तिकी पूर्णताके निमित्तभूत पुद्गलप्रचयकी प्राप्तिको आनापान पर्याप्ति कहते हैं । यह पर्याप्ति भी इन्द्रिय पर्याप्तिके अनन्तर एक अन्तर्मुहूर्त काल व्यतीत होनेपर पूर्ण होती है । भाषावर्गणाके स्कन्धोंके निमित्तसे चार प्रकारकी भाषारूपसे परिणमन करनेकी शक्तिके निमित्तभूत नोकर्म पुद्गलप्रचयकी प्राप्तिको भाषा पर्याप्ति कहते हैं । यह पर्याप्ति भी आनापान पर्याप्तिके पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण होती है। अनुभूत अर्थके स्मरणरूप शक्तिके निमित्तभूत मनोवर्गणाके स्कन्धोंसे निष्पन्न पुद्गलप्रचयको मनःपर्याप्ति कहते हैं अथवा, द्रव्यमनके आलम्बनसे अनुभूत अर्थके स्मरणरूप शक्तिकी उत्पत्तिको मनःपर्याप्ति कहते हैं। इन छहों पर्याप्तियोंका प्रारम्भ युगपत् होता है, क्योंकि, जन्म-समयसे लेकर ही इनका अस्तित्व पाया जाता है । परंतु पूर्णता क्रमसे होती है । तथा इन पर्याप्तियोंकी अपूर्णताको अपर्याप्ति कहते हैं ।

शंका— पर्याप्ति और प्राणमें क्या भेद है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इनमें हिमवान् और विन्ध्याचल पर्वतके समान भेद पाया जाता है । आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनापान, भाषा और मनरूप शक्तियों की पूर्णताके कारणको पर्याप्ति कहते हैं । और जिनके द्वारा आत्मा जीवन संज्ञाको प्राप्त होता है उन्हें प्राण कहते हैं। यही इन दोनोंमें भेद है। वे प्राण पांच इन्द्रियां मनोबल, वचनबल, कायबल, आनापान और आयुके भेदसे दश प्रकारके हैं।

शंका— पांचों इन्द्रियां आयु और कायबल ये प्राण संज्ञाको प्राप्त होवें, क्योंकि, वे जन्मसे लेकर मरणतक भव (पर्याय) को धारण करनेरूपसे पाये जाते हैं । और उनमेंसे किसी एकके अभाव होनेपर मरण भी देखा जाता है । परंतु उच्छ्वास, मनोबल और वचनबल इनको प्राण संज्ञा नहीं दी जा सकती है, क्योंकि, इनके विना भी अपर्याप्त अवस्थामें जीवन पाया जाता है ?

१ गो. जी. गा. ११९. नं. सू. १७. अनयोष्टीका विशेषानुसन्धानाय द्रष्टव्या । मु. मनःपर्याप्तिः (द्रव्यमनोवष्टम्भेनानुभूतार्थस्मरणशक्तेरुत्पत्तिर्मनःपर्याप्तिर्वा ।) एतासां

२ पज्जत्तीपट्ठवणं जुगवं तु कमेण होदि णिट्ठवणं । अंतोमुहुत्तकालेणहियकमा तत्तियालावा ॥ गो. जी. १२०. ३ गो. जी. १२९ टीकानुसन्धेया ।

तत्रैकस्याप्यभावतोऽसुमतां मरणसंदर्शनाच्च । अपि तच्छ्वासमनोवचसां न प्राणव्यपदेशो युज्यते, तान्यन्तरेणापि अपर्याप्तावस्थायां जीवनोपलम्भादिति चेन्न, तैर्विना पश्चाज्जीवतामनुपलम्भतस्तेषामपि प्राणत्वाविरोधात् । उक्तं च—

बाहिर-पाणेहि जहा तहेव अब्भतरेहि पाणेहि ।
जीवंति जेहि जीवा पाणा ते होंति बोद्धवा[1] ॥ १४१ ॥

पर्याप्तिप्राणानां नाम्नि विप्रतिपत्तिर्न वस्तुनि इति चेन्न, कार्यकारणयोर्भेदात्, पर्याप्तिष्वायुषोऽसत्त्वान्मनोवागुच्छ्वासप्राणानामपर्याप्तिकालेऽसत्त्वाच्च तयोर्भेदात् । तत्पर्याप्तयोऽप्यपर्याप्तकाले न सन्तीति तत्र तदसत्त्वमिति चेन्न, अपर्याप्तरूपेण तत्र तासां सत्त्वात् । किमपर्याप्तरूपमिति चेन्न, पर्याप्तीनामर्धनिष्पन्नावस्था अपर्याप्तिः, ततोऽस्ति तेषां भेद इति । अथवा जीवनहेतुत्वं तत्स्थमनपेक्ष्य शक्तिनिष्पत्तिमात्रं

मार्गदर्शक- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समाधान— नहीं, क्योंकि, उच्छ्वास, मनोबल और वचनबलके विना अपर्याप्त अवस्थाके पश्चात् पर्याप्त अवस्थामें जीवन नहीं पाया जाता है, इसलिये उन्हें प्राण माननेमें कोई विरोध नहीं आता है । कहा भी है—

जिस प्रकार नेत्रोंका खोलना, बन्द करना, वचनप्रवृत्ति, आदि बाह्य प्राणोंसे जीव जीते हैं, उसी प्रकार जिन अभ्यन्तर इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमादिके द्वारा जीवमें जीवितपनेका व्यवहार हो उनको प्राण कहते हैं ॥ १४१ ॥

शंका— पर्याप्ति और प्राणके नाममें अर्थात् कहनेमात्रमें विवाद है, वस्तुमें कोई विवाद नहीं है, इसलिये दोनोंका तात्पर्य एक ही मानना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, कार्य और कारणके भेदसे उन दोनोंमें भेद पाया जाता है तथा पर्याप्तियोंमें आयुका सद्भाव नहीं होनेसे और मनोबल, वचनबल, तथा उच्छ्वास इन प्राणोंके अपर्याप्ति कालमें नहीं पाये जानेसे पर्याप्ति और प्राणमें भेद समझना चाहिये ।

शंका— वे पर्याप्तियां भी अपर्याप्त कालमें नहीं पाई जाती हैं, इसलिये अपर्याप्त कालमें उनका सद्भाव नहीं रहेगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अपर्याप्त कालमें अपर्याप्तरूपसे उनका सद्भाव पाया जाता है ।

शंका— अपर्याप्तरूप इसका क्या तात्पर्य है ?

---

१ प्रा. पं. १,४५ । गो. जी. १२९. तत्र 'जीवंति' इति स्थाने 'प्राणंति' इति पाठः । पौद्गलिकद्रव्येन्द्रियादिव्यापाररूपाः द्रव्यप्राणाः । तन्निमित्तभूतज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमादिविजृंमितचेतनव्यापाररूपा भावप्राणाः । जी. प्र. टी.

पर्याप्तिरुच्यते, जीवनहेतवः पुनः प्राणा इति तयोर्भेदः[1]।

एकेन्द्रियाणां भेदमभिधाय साम्प्रतं द्वीन्द्रियादीनां भेदमभिधातुकाम उत्तर-सूत्रमाह—

बीइंदिया दुविहा–पज्जत्ता अपज्जत्ता । तीइंदिया दुविहा–पज्जत्ताअपज्जत्ता। चउरिंदिया दुविहा–पज्जत्ता अपज्जत्ता। पंचिंदिया दुविहा–सण्णी असण्णी । सण्णी दुविहा–पज्जत्ता अपज्जत्ता । असण्णी दुविहा–पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि ॥ ३५ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

द्वीन्द्रियादय उक्तार्था इति पुनरुक्तभयात्पुनस्तेषां नेहार्थ उच्यते। अथ स्यादेतस्य एतावन्त्येवेन्द्रियाणीति कथमवगम्यते इति चेन्न, आर्षात्तदवगतेः। किं तदार्षमिति चेदुच्यते–

समाधान—– पर्याप्तियोंकी अपूर्णताको अपर्याप्ति कहते हैं, इसलिये पर्याप्ति, अपर्याप्ति और प्राण इनमें भेद सिद्ध हो जाता है। अथवा, इन्द्रियादिमें विद्यमान जीवनके कारणपनेकी अपेक्षा न करके इन्द्रियादिरूप शक्तिकी पूर्णतामात्रको पर्याप्ति कहते हैं और जो जीवनके कारण हैं उन्हें प्राण कहते हैं। इस प्रकार इन दोनोंमें भेद समझना चाहिये।

इस प्रकार एकेन्द्रियोंके भेद प्रभेदोंका कथन करके अब द्वीन्द्रियादिक जीवोंके भेदोंका कथन करनेके इच्छुक आचार्य आगेका सूत्र कहते हैं

द्वीन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्तक और अपर्याप्तक। त्रीन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्तक और अपर्याप्तक। चतुरिन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्तक और अपर्याप्तक। पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं– संज्ञी और असंज्ञी। संज्ञी जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्तक और अपर्याप्तक। असंज्ञी जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्तक और अपर्याप्तक ॥ ३५ ॥

द्वीन्द्रिय आदि जीवोंका स्वरूप पहले कह आये हैं, इसलिये पुनरुक्त दूषणके भयसे फिरसे यहां नहीं कहते हैं।

शंका—– इस जीवके इतनी ही इन्द्रियां होती हैं, यह कैसे जाना ?

समाधान—– नहीं, क्योंकि, आर्षसे इस बातको जाना।

शंका—– वह आगम कौनसा है ?

---

१ आहारभाषामनोवर्गणायातपुद्गलस्कन्धानां खलरसभागशरीरावयवरूपद्रव्येन्द्रियरूपोच्छ्वासनिश्वासरूपभाषारूपद्रव्यमनोरूपपरिणमनकारणात्मकशक्तिनिष्पत्तयः पर्याप्तयः, स्वार्थग्रहणव्यापारकायवाग्व्यापारोच्छ्वासनिश्वासप्रवृत्तिभवधारणरूपजीवद्व्यवहारकारणात्मशक्तिविशेषाः प्राणा इति भिन्नलक्षणलक्षितत्वात्पर्याप्तिप्राणयोर्भेदप्रसिद्धेः ॥ गो. जी., मं. प्र., टी. १३१.

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एइंदियस्स फुसणं एक्कं चि य होइ सेस-जीवाणं ।
होंति कम-वड्ढियाइं जिब्भा-घाणक्खि-सोत्ताइं[1] ॥ १४२ ॥

अस्य सूत्रस्यार्थ–उच्यते स्पर्शनमेकमेव एकेन्द्रियस्य भवति[2], स्पर्शनरसने द्वीन्द्रियस्य, स्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रियाणि त्रीन्द्रियाणाम्, तानि सचक्षूंषि चतुरिन्द्रियाणाम्, स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियाणि पञ्चेन्द्रियाणामिति । अथवा 'कृमिपिपीलिका-भ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि[3] ' इति अस्मात्तत्त्वार्थसूत्राद्वावसीयते । अस्यार्थ उच्यते– एकैकं वृद्धं येषां तानीमानि एकैकवृद्धानि । ' वनस्पत्यन्तानामेकम् ' इत्येतस्मात्सूत्रात्स्पर्शनमित्यनुवर्तते । तत एवमभिसंबध्यते–स्पर्शनं रसनवृद्धं कृम्यादीनाम्, स्पर्शनरसने घ्राणवृद्धे पिपीलिकादीनाम्, स्पर्शनरसनघ्राणानि चक्षुर्वृद्धानि भ्रमरादीनाम् तानि श्रोत्रवृद्धानि मनुष्यादीनामिति[4] ।

समनस्काः संज्ञिनः, अमनस्का असंज्ञिन इति[5] । मनो द्विविधम्–द्रव्यमनो

समाधान–– एकेन्द्रिय जीवके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है, और शेष जीवोंके क्रमसे बढ़ती हुई जिह्वा, घ्राण, अक्षि और श्रोत्र इन्द्रियाँ होती हैं ॥ १४२ ॥

अब इस सूत्रका अर्थ कहते हैं– एकेन्द्रिय जीवके एक स्पर्शन इन्द्रिय, द्वीन्द्रिय जीवके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ, त्रीन्द्रिय जीवके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ, चतुरिन्द्रिय जीवके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ और पंचेन्द्रिय जीवके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ होती हैं । अथवा तत्त्वार्थसूत्रके कृमिपिपीलिका-भ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ' इस सूत्रसे यह जाना जाता है कि किस जीवके कितनी इन्द्रियाँ होती हैं । अब इस सूत्रका अर्थ कहते हैं–

एक एक इन्द्रियका बढ़ता हुआ क्रम जिन इन्द्रियोंका पाया जावे, ऐसी एक एक इन्द्रियके बढ़ते हुए क्रमरूप पांच इन्द्रियाँ होती हैं । 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इस सूत्रमेंसे स्पर्शन पदकी अनुवृत्ति होती है, इसलिये ऐसा संबन्ध कर लेना चाहिये कि कृमि आदि द्वीन्द्रिय जीवोंके स्पर्शनके साथ रसना इन्द्रिय और अधिक होती है । पिपीलिका आदि त्रीन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन और रसनाके साथ घ्राण इन्द्रिय और अधिक होती है । भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना और घ्राणके साथ चक्षु इन्द्रिय और अधिक होती है । मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षुके साथ श्रोत्र इन्द्रिय और अधिक होती है ।

मनसहित जीवोंको संज्ञी कहते हैं । मन दो प्रकारका है– द्रव्यमन और भावमन । उनमें पुद्गलविपाकी आंगोपांग नामकर्मके उदयकी अपेक्षा रखनेवाला द्रव्यमन है । तथा

---

१ प्रा. पं. १,६७ । गो. जी. १६७. २ वनस्पत्यन्तानामेकम् । त. सू. २. २२.
३ त. सू. २. २३. ४ पाठोऽयं त. रा. वा. २. २३. वा. २-४ व्याख्यया समानः ।
५ मु. समनस्काः संज्ञिन इति ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

भावमन इति । तत्र पुद्गलविपाकिकर्मोदयापेक्षं द्रव्यमनः[1] । वीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षात्मनो विशुद्धिर्भावमनः[2] । तत्र भावेन्द्रियाणामिव भावमनस उत्पत्तिकाल एव सत्त्वादपर्याप्तकालेऽपि भावमनसः सत्त्वमिन्द्रियाणामिव किमिति नोक्तमिति चेन्न, बाह्येन्द्रियैरग्राह्यद्रव्यस्य मनसोऽपर्याप्त्यवस्थायामस्तित्वेऽङ्गीक्रियमाणे द्रव्यमनसो विद्यमाननिरूपणस्यासत्त्वप्रसङ्गात् । पर्याप्तिनिरूपणतस्तदस्तित्वं[3] सिद्ध्येदिति चेन्न, बाह्यार्थस्मरणशक्तिनिष्पत्तेः पर्याप्तिव्यपदेशतो द्रव्यमनसोऽभावेऽपि पर्याप्तिनिरूपणोपपत्तेः । न बाह्यार्थस्मरणशक्तेः प्रागस्तित्वम् योगस्य द्रव्यस्योत्पत्तेः प्राक् सत्त्वविरोधात् । ततो द्रव्यमनसोऽस्तित्वस्य ज्ञापकं भवति तस्यापर्याप्त्यवस्थायामस्तित्वानिरूपणमिति सिद्धम् । मनस इन्द्रियव्यपदेशः किन्न कृत इति चेन्न, इन्द्रस्य

....

वीर्यान्तराय और नो-इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमके निमित्तसे आत्मामें जो विशुद्धि पैदा होती है वह भावमन है ।

शंका— जीवके नवीन भवको धारण करनेके समय ही भावेन्द्रियोंकी तरह भावमनका भी सत्त्व पाया जाता है, इसलिये जिस प्रकार अपर्याप्त कालमें भावेन्द्रियोंका सद्भाव कहा जाता है उसी प्रकार वहां पर भावमनका सद्भाव क्यों नहीं कहा ?

समाधान— नहीं क्योंकि, बाह्य इन्द्रियोंके द्वारा जिसके द्रव्यका ग्रहण नहीं होता ऐसे मनका अपर्याप्तिरूप अवस्थामें अस्तित्व स्वीकार कर लेनेपर, जिसका निरूपण विद्यमान है ऐसे द्रव्यमनके असत्त्वका प्रसंग आ जायगा ।

शंका— पर्याप्तिके निरूपणसे ही द्रव्यमनका अस्तित्व सिद्ध हो जायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, बाह्यार्थकी स्मरणशक्तिकी निष्पत्तिकी पर्याप्ति संज्ञा होनेसे द्रव्यमनके अभावमें भी पर्याप्तिका निरूपण बन जाता है । बाह्य पदार्थोंको स्मरणकी शक्तिके पहले द्रव्यमनका सद्भाव बन जायगा ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, द्रव्यमनके योग्य द्रव्यकी उत्पत्तिके पहले उसका सत्त्व मान लेनेमें विरोध आता है । अतः अपर्याप्तिरूप अवस्थामें भावमनके अस्तित्वका निरूपण नहीं करना द्रव्यमनके अस्तित्वका ज्ञापक है यह सिद्ध होता है ।

शंका— मनको इन्द्रिय संज्ञा क्यों नही दी गई ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इन्द्र अर्थात् आत्माके लिंगको इन्द्रिय कहते हैं । जिसके

---

१ स. सि. २. ११ । त. रा. वा. २. ११. द्रव्यमनश्च ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गलाभप्रत्ययाः गुणदोषविचारस्मरणादिप्रणिधानस्याभिमुखस्यात्मनोऽनुग्राहकाः पुद्गला मनस्त्वेन परिणता इति पौद्गलिकम् । स. सि. ५. ११. । त. रा. वा. ५. ११.

२ स. सि. २. ११ । त. रा. वा. २. ११, भावमनस्तावल्लब्ध्युपयोगलक्षणं पुद्गलावलम्बनत्वात्पौद्गलिकम् । स. सि. ५. १९ । त. रा. वा. ५. १९. ३ मु. निरूपणात्तदस्तित्वं ।

लिङ्गमिन्द्रियम्[1]। उपभोक्तुरात्मनोऽनिवृत्तकर्मसम्बन्धस्य परमेश्वरशक्तियोगादिन्द्र-व्यपदेशमर्हतः स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्योपयोगोपकरणं लिङ्गमिति कथ्यते[2]। न च मनः[3] उपयोगोपकरणमस्ति। द्रव्यमन उपयोगोपकरणमस्तीति चेन्न, शेषेन्द्रियाणामिव बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाभावतस्तस्येन्द्रलिङ्गत्वानुपपत्तेः[4]। अथ स्यादर्थालोकमनस्कार-चक्षुर्भ्यः सम्प्रवर्तमानं रूपज्ञानं समनस्केषूपलभ्यते, तस्य कथममनस्केष्वाविर्भाव इति नैष दोषः, भिन्नजातित्वात्।

इन्द्रियेषु गुणस्थानानामियत्ताप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिंदिया असण्णिपंचिंदिया एक्कम्मि चेव मिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे[5] ॥ ३६ ॥

कर्मोंका संबन्ध दूर नहीं हुआ है, जो परमेश्वररूप शक्तिके संबन्धसे इन्द्र संज्ञाको धारण करता है, परंतु जो स्वतः पदार्थोंको ग्रहण करनेमें असमर्थ है ऐसे उपभोक्ता आत्माके उपयोगके उपकरणको लिंग कहते हैं। परंतु मन उपयोगका उपकरण नहीं है, इसलिये मनको इन्द्रिय संज्ञा नहीं दी गई।

शंका— उपयो[illegible]करण [illegible] है [illegible] आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार शेष इन्द्रियोंका बाह्य इन्द्रियोंसे ग्रहण होता है उस प्रकार मनका नहीं होता है, इसलिये उसे इन्द्रका लिंग नहीं कह सकते हैं।

शंका— पदार्थ, प्रकाश, मन और चक्षु इनसे उत्पन्न होनेवाला रूप-ज्ञान समनस्क जीवोंमें पाया जाता है, यह तो ठीक है। परंतु अमनस्क जीवोंमें उस रूप-ज्ञानकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, समनस्क जीवोंके रूप-ज्ञानसे अमनस्क जीवोंका रूप-ज्ञान भिन्न जातीय है।

अब इन्द्रियोंमें गुणस्थानोंकी निश्चित संख्याके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव मिथ्यादृष्टि नामक प्रथम गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ ३६ ॥

---

१ स. सि. १, १४.

२ इन्द्र आत्मा, तस्य कर्ममलीमसस्य स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्यार्थोपलम्भने यल्लिङ्गं तदिन्द्रिय-मित्युच्यते। त. रा. वा. १. १४. १. ३ मु. मनसः।

४ स. सि. १. १४। त. रा. वा. १. १४. २. अनयोर्व्याख्या विशेषपरिज्ञानायानुसन्धेया।

५ इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियादिषु चतुरिन्द्रियपर्यन्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्। असंज्ञिषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्। स. सि १. ८. २ अ. ब. प्रतौ मिच्छाइट्ठिणो ॥

एकस्मिन्नेवेति विशेषणं द्वयादिसंख्यानिराकरणार्थम्। शेषगुणस्थाननिरसनार्थं मिथ्यादृष्टिग्रहणम्। एइंदिएसु सासणगुणट्ठाणं पि सुणिज्जदि, तं कधं घडदे ? ण, एदम्हि सुत्ते तस्स णिसिद्धत्तादो[1]। विरुद्धत्थाणं कधं दोण्हं पि सुत्तत्तणमिदि ण, दोण्हं एक्कदरस्स सुत्तत्तादो[2]। दोण्हं मज्झे इदं सुत्तमिदं च ण भवदीदि कधं णव्वदि? उवदेसमंतरेण तदवगमाभावादो दोण्हं पि संगहो कायव्वो। दोण्हं संगहं करेंतो संसय-मिच्छाइट्ठी होदि त्ति, तण्ण, सुत्तुद्दिट्ठमेव अत्थि त्ति सद्दहंतस्स संदेहाभावादो। उत्तं च–

सुत्तादो तं सम्मं दरिसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेय हवदि मिच्छाइट्ठी हु तदो पहुडि जीवो[3] ॥ १४३ ॥

दो, तीन आदि संख्याके निराकरण करनेके लिये सूत्रमें एक पदका ग्रहण किया है। तथा अन्य गुणस्थानोंके निराकरण करनेके लिये मिथ्यादृष्टि पदका ग्रहण किया है।

शंका— एकेन्द्रिय जीवोंमें सासादन गुणस्थान भी सुननेमें आता है, इसलिये उनके केवल एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके कथन करनेसे वह कैसे बन सकेगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इस खंडागम-सूत्रमें उनके सासादन गुणस्थानका निषेध हैं।

शंका— जब कि दोनों वचन परस्पर विरोधी हैं तो उन्हें सूत्रपना कैसे प्राप्त हो सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, दोनों वचन सूत्र नहीं हो सकते हैं, किंतु उन दोनों वचनोंमेंसे किसी एक वचनको ही सूत्रप प्राप्त हो सकता है।

शंका— दोनों वचनोंमें यह वचन सूत्ररूप है, और यह नहीं, यह कैसे जाना जाय ?

समाधान— उपदेशके विना दोनोंमेंसे कौन वचन सूत्ररूप है यह नहीं जाना जा सकता है, इसलिये दोनों वचनोंका संग्रह करना चाहिये।

शंका— दोनों वचनोंका संग्रह करनेवाला संशय-मिथ्यादृष्टि हो जायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, संग्रह करनेवालेके 'यह सूत्रकथित ही है' इस प्रकारका श्रद्धान पाया जाता है, अतएव उसके संदेह नहीं हो सकता है। कहा भी हैं—

सूत्रसे आचार्यादिके द्वारा भलेप्रकार समझाये जानेपरभी यदि वह जीव विपरीत अर्थको छोड़कर समीचीन अर्थका श्रद्धान नहीं करता है, तो उसी समयसे वह जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है ॥ १४३ ॥

१ येषां मते सासादन एकेन्द्रियेषु नोत्पद्यते × × स. सि. १.८. जे पुण देवसासणा एइंदिएसुप्पज्जंती ति मणंति तेसिमहिप्पाएण बारहचोद्दसभागा देसूणा उववादफोसणं होदि, एदं पि वक्खाणं संतदव्वसुत्तविरुद्धं ति ण घेत्तव्वं। धवला अ. पृ. २६०. २ अ. ब. सुत्तादो।

३ गो. जी. २९.

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पञ्चेन्द्रियप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह--

पंचिंदिया असण्णिपंचिंदिय--प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ॥ ३७ ॥

पञ्चेन्द्रियेषु गुणस्थानसंख्यामप्रतिपाद्य किमिति असंज्ञिप्रभृतयः पञ्चेन्द्रिया इति प्रतिपादितमिति चेन्नैष दोषः, असंज्ञादयोऽयोगिकेवलिपर्यन्ताः पञ्चेन्द्रिया इत्यभिहितेऽपि पञ्चेन्द्रियेषु गुणस्थानानामियत्तावगतेः। अथ स्यादसंज्ञ्यादयोऽयोगि-केवलिपर्यन्ताः किमु पञ्चद्रव्येन्द्रियवन्त उत भावेन्द्रियवन्त इति ? न तावदादिविकल्पः, अपर्याप्तजीवैर्व्यभिचारात्। न द्वितीयविकल्पः, केवलिभिर्व्यभिचारादिति ? नैष दोषः, भावेन्द्रियतः पञ्चेन्द्रियत्वाभ्युपगमात्। न पूर्वोक्तदोषोऽपि, केवलिनां निर्मूलतो विनष्टान्तरङ्गेन्द्रियाणां प्रहतबाह्येन्द्रियव्यापाराणां भावेन्द्रियजनितद्रव्येन्द्रियसत्त्वा-

पंचेन्द्रियोंमें गुणस्थानोंकी संख्याके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

असंज्ञी-पंचेन्द्रिय-मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानतक पंचेन्द्रिय जीव होते हैं ॥ ३७ ॥

शंका-- पंचेन्द्रिय जीवोंमें गुणस्थानोंकी संख्याका प्रतिपादन नहीं करके असंज्ञी आदिक पंचेन्द्रिय होते हैं, ऐसा क्यों कहा ?

समाधान-- यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, असंज्ञीको आदि लेकर अयोगिकेवली पर्यन्त पंचेन्द्रिय जीव होते है, ऐसा कथन कर देनेपरही पंचेन्द्रियोंमें गुणस्थानोंकी संख्याका ज्ञान हो जाता है।

शंका-- असंज्ञीसे लेकर अयोगिकेवलीतक पंचेन्द्रिय जीव होते हैं यह ठीक है, परंतु वे क्या पांच द्रव्येन्द्रियोंसे युक्त होते हैं या पांच भावेन्द्रियोंसे युक्त होते हैं ? इनमें से प्रथम विकल्प तो बन नहीं सकता, क्योंकि, उसके मान लेनेपर अपर्याप्त जीवोंके साथ व्यभिचार दोष आता है। अर्थात् अपर्याप्त जीव पंचेन्द्रिय होते हुए भी उनके द्रव्येन्द्रियां नहीं पाई जातीं, इसलिये व्यभिचार दोष आता है। इसी प्रकार दूसरा विकल्प भी नहीं बनता, क्योंकि, उसके मान लेनेपर केवलियोंसे व्यभिचार दोष आता है। अर्थात् केवली पंचेन्द्रिय होते हुए भी उनके भावेन्द्रियां नहीं पाई जाती हैं, इसलिये व्यभिचार दोष आता है ?

समाधान-- यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यहांपर भावेन्द्रियोंकी अपेक्षा पंचेन्द्रियपना स्वीकार किया है। और ऐसा मान लेनेपर पूर्वोक्त दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, केवलियोंके यद्यपि भावेन्द्रियां समूल नष्ट हो गई हैं, और बाह्य इन्द्रियोंका व्यापार भी बन्द हो गया है, तो भी (छद्मस्थ अवस्थामें) भावेन्द्रियोंके निमित्तसे उत्पन्न हुई द्रव्येन्द्रियोंके

१ पञ्चेन्द्रियेषु चतुर्दशापि सन्ति। स. सि. १. ८.

पेक्षया पञ्चेन्द्रियत्वप्रतिपादनात्, भूतपूर्वगतिन्यायसमाश्रयणाद्वा । सर्वत्र निश्चयनयमाश्रित्य प्रतिपाद्य अत्र व्यवहारनयः किमित्यवलम्ब्यते इति चेन्नैष दोषः, मन्दमेधसामनुग्रहार्थत्वात् । अथवा नेदं व्याख्यानं समीचीनम् दुरधिगमत्वात्, इन्द्रियप्राणैरस्य पौनरुक्त्यप्रसङ्गात् । किमपरं व्याख्यानमिति चेदुच्यते । एकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयादेकेन्द्रियः, द्वीन्द्रियजातिनामकर्मोदयाद् द्वीन्द्रियः, त्रीन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्त्रीन्द्रियः, चतुरिन्द्रियजातिनामकर्मोदयाच्चतुरिन्द्रियः, पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्पञ्चेन्द्रियः। समस्ति च केवलिनामपर्याप्तजीवानां च पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयः । निरवद्यत्वाद् व्याख्यानमिदं समाश्रयणीयम् । पञ्चेन्द्रियजातिरिति किं ? यस्याः पारापतादयो मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज जातिविशेषाः, समानप्रत्ययग्राह्याः सा पञ्चेन्द्रियजातिः पञ्चेन्द्रियक्षयोपशमस्य सहकारित्वमादधाना ।

अतीन्द्रियजीवास्तित्वप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

तेण परमणिंदिया इदि ॥ ३८ ॥

सद्भावकी अपेक्षा उन्हें पंचेन्द्रिय कहा गया है । अथवा भूतपूर्वका ज्ञान करानेवाले न्यायके आश्रयसे उन्हें पंचेन्द्रिय कहा है ।

शंका— सब जगह निश्चय नयका आश्रय लेकर वस्तु-स्वरूपका प्रतिपादन करनेके पश्चात् फिर यहां पर व्यवहार नयका आलम्बन क्यों लिया जा रहा है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, मन्दबुद्धि शिष्योंके अनुग्रहके लिये उक्तप्रकारसे कथन किया है । अथवा, उक्त व्याख्यानको ठीक नहीं समझना, क्योंकि, मन्दबुद्धि शिष्योंके लिये यह व्याख्यान दुरवबोध है । दूसरे इन्द्रिय प्राणोंके साथ इस कथनका पुनरुक्त दोष भी आता है ।

शंका— तो फिर वह दूसरा कौनसा व्याख्यान है जिसे ठीक माना जाय ?

समाधान— एकेन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे पंचेन्द्रिय जीव होते हैं । इस व्याख्यानके अनुसार केवली और अपर्याप्त जीवोंके भी पंचेन्द्रिय जाति नामकर्मका उदय होता ही है । अतः यह व्याख्यान निर्दोष है । अतएव इसका आश्रय करना चाहिये ।

शंका— पंचेन्द्रियजाति किसे कहते हैं ?

समाधान— जिससे कबूतर आदि जाति-विशेष 'ये पंचेन्द्रिय हैं' इस प्रकार समान प्रत्ययसे ग्रहण करने योग्य होते हैं और जिसमें पंचेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमके सहकारीपनेकी अपेक्षा रहती है उसे पंचेन्द्रिय जाति कहते हैं ।

अब अतीन्द्रिय जीवोंके अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

उन एकेन्द्रियादि जीवोंसे परे अनिन्द्रिय जीव होते हैं ॥ ३८ ॥

तेनेति एकवचनं जातिनिबन्धनम् । परमूर्ध्वम् । अनिन्द्रियाः एकेन्द्रियादिजात्यतीताः, सकलकर्मकलङ्कातीतत्वात् ।

कायमार्गणाप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

कायाणुवादेण अत्थि पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणप्फइकाइया तसकाइया अकाइया चेदि ॥ ३९ ॥

अनुवदनमनुवादः । कायानामनुवादः कायानुवादः, तेन कायानुवादेन । पृथिव्येव कायः पृथिवीकायः, स एषामस्तीति पृथिवीकायिकाः । न कार्मणशरीरमात्रस्थितजीवानां पृथिवीकायत्वाभावः, भाविनि भूतवदुपचारतस्तेषामपि तद्व्यपदेशोपपत्तेः । अथवा पृथिवीकायिकनामकर्मोदयवशवर्तिनः पृथिवीकायिकाः । एवमप्कायिकादीनामपि वाच्यम् । पृथिव्यादीनि कर्माण्यसिद्धानीति चेन्न, पृथिवीकायिकादिकार्यान्यथानुपपत्तितस्तदस्तित्वसिद्धेः । एते पञ्चापि स्थावराः, स्थावरनामकर्मोदयजनित-

---

सूत्रमें 'तेण' यह एक वचन जातिका सूचक है । 'परं' शब्दका अर्थ ऊपर है । जिससे यह अर्थ हुआ कि एकेन्द्रियादि जातिभेदोंसे रहित अनिन्द्रिय जीव होते हैं, क्योंकि, उनके संपूर्ण द्रव्यकर्म और भावकर्म नहीं पाये जाते है ।

अब कायमार्गणाके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

कायानुवादकी अपेक्षा पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक और कायरहित जीव हैं ॥ ३९ ॥

सूत्रके अनुकूल कथन करनेको अनुवाद कहते हैं । कायोंके अनुवादको कायानुवाद कहते हैं, उसकी अपेक्षा पृथिवीकायिक आदि जीव हैं । पृथिवीही काय पृथिवीकाय है, वह जिनके पाया जाता है उन जीवोंको पृथिवीकायिक कहते हैं । पृथिवीकायिकका इस प्रकार लक्षण करनेपर कार्मण काययोगमें स्थित जीवोंके पृथिवीकायपना नहीं हो सकता है, यह बात नहीं हैं, क्योंकि, जिस प्रकार जो कार्य अभी नहीं हुआ हैं, उसमें यह हो चुका इस प्रकार उपचार किया जाता है, उसीप्रकार कार्मण काययोगमें स्थित पृथिवीकायिक जीवोंके भी पृथिवीकायिक यह संज्ञा बन जाती है । अथवा, जो जीव पृथिवीकायिक नामकर्मके उदयके वशवर्ती हैं उन्हें पृथिवीकायिक कहते हैं । इसी प्रकार जलकायिक आदि शब्दोंकी भी निरुक्ति कर लेना चाहिये ।

शंका— पृथिवी आदि कर्म असिद्ध हैं, अर्थात् उनका सद्भाव किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, पृथिवीकायिक आदि कार्योंका होना अन्यथा बन नहीं सकता, इसलिये पृथिवी आदि नामकर्मोंके अस्तित्वकी सिद्धि हो जाती है ।

स्थावर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई विशेषताके कारण ये पांचों ही स्थावर कहलाते हैं ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विशेषत्वात् । स्थानशीलाः स्थावरा इति चेन्न, वायुतेजोऽम्भसां देशान्तरप्राप्तिदर्शनादस्थावरत्वप्रसङ्गात्[1] । स्थानशीलाः स्थावरा इति व्युत्पत्तिमात्रमेव, नार्थःप्राधान्येनाश्रीयते गोशब्दस्येव । त्रसनामकर्मोदयापादितवृत्तयस्त्रसाः । त्रसेरुद्वेजनक्रियस्य त्रस्यन्तीति त्रसा इति चेन्न, गर्भाण्डजमूर्च्छितसुषुप्तेषु तदभावादत्रसत्वप्रसङ्गात्[2] । ततो न चलनाचलनापेक्षं त्रसस्थावरत्वम् । आत्मप्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिण्डः कायः इत्यनेनेदं व्याख्यानं विरुद्धचत इति चेन्न, जीवविपाकित्रसपृथिवीकायिकादिकर्मोदयसहकार्यौदारिकशरीरोदयजनितशरीरस्यापि उपचारतस्तद्व्यपदेशार्हत्वाविरोधात् । त्रसस्थावरकायिकनामकर्मबन्धातीताः अकायिकाः सिद्धाः । उक्तं च—

शंका— स्थानशील अर्थात् ठहरना ही जिनका स्वभाव हो उन्हें स्थावर कहते हैं, ऐसी व्याख्याके अनुसार स्थावरोंका स्वरूप क्यों नहीं कहा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वैसा लक्षण मानने पर, वायुकायिक, अग्निकायिक और जलकायिक जीवोंकी एक देशसे दूसरे देशमें गति देखी जानेसे उन्हें अस्थावरत्वका प्रसंग प्राप्त हो जायगा ।

स्थानशील स्थावर होते हैं, यह निरुक्ति व्युत्पत्तिमात्र ही है, इसमें गो शब्दकी व्युत्पत्तिकी तरह प्रधानतासे अर्थका ग्रहण नहीं है ।

त्रस नामकर्मके उदयसे जिन्होंने त्रसपर्यायको प्राप्त कर लिया है उन्हें त्रस कहते हैं ।

शंका— 'त्रसि उद्वेगे' इस धातुसे त्रस शब्दकी सिद्धि हुई है, जिसका यह अर्थ होता है कि जो उद्विग्न अर्थात् भयभीत होकर भागते हैं वे त्रस हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, गर्भमें स्थित, अण्डेमें बन्द, मूर्छित और सोते हुए जीवोंमें उक्त लक्षण घटित नहीं होनेसे उन्हें अत्रसत्वका प्रसंग आजायगा। इसलिये चलने और ठहरनेकी अपेक्षा त्रस और स्थावरपना नहीं समझना चाहिये ।

शंका— आत्म-प्रवृत्ति अर्थात् योगसे संचित हुए पुद्गलपिण्डको काय कहते हैं, इस व्याख्यानसे पूर्वोक्त व्याख्यान विरोधको प्राप्त होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिसमें जीवविपाकी त्रस नामकर्म और पृथिवीकायिक आदि नामकर्मके उदयकी सहकारिता है ऐसे औदारिक-शरीर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए शरीरको उपचारसे कायपना बन जाता है, इसमें कोई विरोध नहीं आता है ।

त्रस और स्थावर-कायिक नामकर्मके बन्धसे अतीत सिद्धोंको अकायिक कहते हैं । कहा भी है—

जिस प्रकार अग्निको प्राप्त हुआ सोना, कीट और कालिमारूप बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकारके मलसे रहित हो जाता है, उसी प्रकार ध्यानके द्वारा यह जीव काय और कर्मरूप

१ त. रा. वा. २. १२. ३, तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः । स. त. सू. २. १४.
२ त. रा. वा. २. १२. २.

जह कंचणमग्गि-गयं मुंचइ किट्टेण कालियाए य ।
तह काय[1]-बंध-मुक्का अकाइया ज्झाण-जोएण[2] ॥ १४४ ॥

पुढवि-काइयादीणं भेद-पदुप्पायणट्ठमुत्तर-सुत्तं भणइ—

पुढविकाइया दुविहा--बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा--पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा-पज्जत्ता अपज्जत्ता। आउकाइया दुविहा-बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा-पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा-पज्जत्ता अपज्जत्ता। तेउकाइया दुविहा--बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा--पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा--पज्जत्ता अपज्जत्ता। वाउकाइया दुविहा--बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा--पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा--पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि ॥ ४० ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

बादरनामकर्मोदयोपजनितविशेषाः बादराः, सूक्ष्मनामकर्मोदयोपजनितविशेषाः सूक्ष्माः। को विशेषश्चेत् ? सप्रतिघाताप्रतिघातरूपः[3] । पर्याप्तनामकर्मोदयजनित-

बन्धसे मुक्त होकर कायरहित हो जाता है ॥ १४४ ॥

अब पृथिवीकायिकादि जीवोंके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

पृथिवीकायिक जीव दो प्रकारके हैं– बादर और सूक्ष्म। बादर पृथिवीकायिक जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्त और अपर्याप्त। सूक्ष्म पृथिवीकायिक जीव दो प्रकारके है– पर्याप्त और अपर्याप्त। जलकायिक जीव दो प्रकारके हैं– बादर और सूक्ष्म। बादर जलकायिक जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्त और अपर्याप्त। सूक्ष्म जलकायिक जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्त और अपर्याप्त। अग्निकायिक जीव दो प्रकारके हैं– बादर और सूक्ष्म। बादर अग्निकायिक जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्त और अपर्याप्त। सूक्ष्म अग्निकायिक जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्त और अपर्याप्त। वायुकायिक जीव दो प्रकारके हैं– बादर और सूक्ष्म। बादर वायुकायिक जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्त और अपर्याप्त। सूक्ष्म वायुकायिक जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्त और अपर्याप्त ॥४०॥

जिनमें बादर नामकर्मके उदयसे विशेषता उत्पन्न हो गई है उन्हें बादर कहते हैं। तथा जिनमें सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे विशेषता उत्पन्न हो गई है उन्हें सूक्ष्म कहते हैं।

शंका— बादर और सूक्ष्ममें क्या विशेषता है ?

समाधान— बादर प्रतिघात सहित होते हैं– और सूक्ष्म प्रतिघात रहित होते हैं, यही इन दोनोंमें विशेषता है। अर्थात् निमित्तके मिलनेपर बादर शरीरका प्रतिघात हो सकता

१ क प्रतौ कालिय.

२ प्रा. पं. १, २७। गो. जी. २०३. किट्टेन बहिर्मलेन कालिकया च वैवर्ण्यरूपांतरंगमलेन। जी. प्र. टी. ३ मु. रूपाः ।

शक्त्याविर्भावितवृत्तयः पर्याप्ताः। अपर्याप्तनामकर्मोदयजनितशक्त्याविर्भावितवृत्तयः अपर्याप्ताः।

वनस्पतिकायिकभेदप्रतिपादनार्थमाह—

वणप्फइकाइया दुविहा–पत्तेयसरीरा साधारणसरीरा। पत्तेयसरीरा दुविहा पज्जत्ता अपज्जत्ता। साधारणसरीरा दुविहा–बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा–पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि ॥ ४१ ॥

मार्गदर्शक- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रत्येकं पृथक् शरीरं येषां ते प्रत्येकशरीराः खदिरादयो वनस्पतयः पृथिवीकायिकादिपञ्चानामपि प्रत्येकशरीरव्यपदेशस्तथा सति स्यादिति चेन्न, इष्टत्वात्।

है, परंतु सूक्ष्मशरीरका कभी भी प्रतिघात नहीं होता है।

पर्याप्त नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई शक्तिसे जिन जीवोंकी अपने अपने योग्य पर्याप्तियोंके पूर्ण करनेरूप अवस्था-विशेष प्रगट हो गई है उन्हें पर्याप्त कहते हैं। तथा अपर्याप्त नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई शक्तिसे जिन जीवोंकी शरीर-पर्याप्ति पूर्ण न करके मरनेरूप अवस्था-विशेष उत्पन्न हो जाती है उन्हें अपर्याप्त कहते हैं।

अब वनस्पति-कायिक जीवोंके भेद-प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके हैं– प्रत्येकशरीर और साधारणशरीर। प्रत्येकशरीर वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्त और अपर्याप्त। साधारणशरीर वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके हैं– बादर और सूक्ष्म। बादर दो प्रकारके हैं– पर्याप्त और अपर्याप्त। सूक्ष्म दो प्रकारके है– पर्याप्त और अपर्याप्त ॥ ४१ ॥

जिनका प्रत्येक अर्थात् पृथक् पृथक् शरीर होता है उन्हें प्रत्येकशरीर जीव कहते हैं, जैसे, खैर आदि वनस्पति।

शंका—– प्रत्येकशरीरका इस प्रकार लक्षण करने पर पृथिवीकायिक आदि पांचोंको भी प्रत्येकशरीर संज्ञा प्राप्त हो जायगी ?

समाधान—– यह आशंका कोई आपत्ति-जनक नहीं है, क्योंकि, पृथिवीकायिक आदिको प्रत्येकशरीर मानना इष्ट ही है।

शंका—– तो फिर पृथिवीकायिक आदिके साथभी प्रत्येकशरीर विशेषण लगा लेना चाहिये ?

समाधान—– नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार वनस्पतियोंमें प्रत्येक वनस्पतिसे निराकरण करने योग्य साधारण वनस्पति पाई जाती है, उस प्रकार पृथिवी आदिमें प्रत्येक शरीरसे भिन्न निराकरण करने योग्य कोई भेद नहीं पाया जाता है, इसलिये पृथिवी आदिमें अलग विशेषण देनेकी कोई आवश्यकता नही है।

तर्हि तेषामपि प्रत्येकशरीरविशेषणं विधातव्यमिति चेन्न, तत्र वनस्पतिष्विव व्यवच्छेद्याभावात् । बादरसूक्ष्मोभयविशेषणाभावादनुभयत्वमनुभयस्य चाभावात्प्रत्येकशरीरवनस्पतीनामभावः समापतेदिति चेन्न, बादरत्वेन सतामभावानुपपत्तेः । अनुक्तं कथमवगम्यत इति चेन्न, सत्त्वान्यथानुपपत्तितस्तत्सिद्धेः । सौक्ष्म्यविशिष्टस्यापि जीवसत्त्वस्य सम्भवः[1] समस्तीति अनैकान्तिको हेतुरिति चेन्न, बादरा इति लक्षणमुत्सर्गरूपत्वादशेषप्राणिव्यापि । ततः प्रत्येकशरीरवनस्पतयो बादरा एव, न सूक्ष्माः, साधारणशरीरेष्विव उत्सर्गविधिबाधकापवादविधेरभावात् । तदुत्सर्गत्वं कथमवगम्यत इति चेन्न प्रत्येकवनस्पतित्रसेषूभयविशेषणानुपादनान्न सूक्ष्मत्वमुत्सर्गः आर्षमन्तरेण प्रत्यक्षादिनानवगतेरप्रसिद्धस्य बादरत्वस्येवोत्सर्गत्वविरोधात् ।

शंका—प्रत्येक वनस्पतिमें बादर और सूक्ष्म दो विशेषण नहीं पाये जाते हैं, इसलिये प्रत्येक वनस्पतिको अनुभयपना प्राप्त हो जाता है । परंतु बादर और सूक्ष्म इन दो भेदोंको छोड़कर अनुभयरूप कोई तीसरा विकल्प पाया नहीं जाता है, इसलिये अनुभयरूप विकल्पके अभावमें प्रत्येकशरीर वनस्पतियोंका भी अभाव प्राप्त हो जायगा ?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, प्रत्येक वनस्पतिका बादररूपसे अस्तित्व पाया जाता है, इसलिये उसका अभाव नहीं हो सकता है ।

शंका—प्रत्येक वनस्पतिको बादर नहीं कहा गया है, फिर कैसे जाना जाय कि प्रत्येक वनस्पति बादर ही होती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रत्येक वनस्पतिका दूसरे रूपसे अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है, इसलिये बादररूपसे उसके अस्तित्वकी सिद्धि हो जाती है ।

शंका—सूक्ष्मता-विशिष्ट जीवोंकी सत्ता संभव है, इसलिये यह सत्त्वान्यथानुपपत्तिरूप हेतु अनैकान्तिक है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, बादर यह लक्षण उत्सर्गरूप (व्यापक) होनेसे संपूर्ण प्राणियोंमें पाया जाता है । इसलिये प्रत्येक शरीर वनस्पति जीव बादर ही होते हैं, सूक्ष्म नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार साधारण शरीरोंमें उत्सर्गविधिकी बाधक अपवादविधि पाई जाती है, अर्थात् साधारण शरीरोंमें बादर भेदके अतिरिक्त सूक्ष्म भेद भी पाया जाता है, उस प्रकार प्रत्येक वनस्पतिमें अपवादविधि नहीं पाई जाती है, अर्थात् उनमें सूक्ष्म भेदका सर्वथा अभाव है ।

शंका—प्रत्येक वनस्पतिमें बादर यह लक्षण उत्सर्गरूप है, यह कैसे जाना जाता है ।

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रत्येक वनस्पति और त्रसोंमें बादर और सूक्ष्म ये दोनों विशेषण नहीं पाये जाते हैं, इसलिये सूक्ष्मत्व उत्सर्गरूप नहीं हो सकता है, क्योंकि, आगमके विना प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सूक्ष्मत्वका ज्ञान नहीं होता है, अतएव प्रत्यक्षादिसे अप्रसिद्ध सूक्ष्मको बादरकी तरह उत्सर्गरूप माननेमें विरोध आता है ।

१ म. स्यासंभव

साधारणं सामान्यं शरीरं येषां ते साधारणशरीराः। प्रतिनियतजीवप्रतिबद्धैः पुद्गलविपाकित्वादाहारवर्गणास्कन्धानां कायाकारपरिणमनहेतुभिरौदारिकनोकर्मस्कन्धैः कथं भिन्नजीवफलदातृभिरेकं शरीरं निष्पाद्यते, विरोधादिति चेन्न पुद्गलानामेकदेशावस्थितानामेकदेशावस्थितमिथःसमवेतजीवसमवेतानां तत्स्थाशेषप्राणिसम्बन्ध्येकशरीरनिष्पादनं न विरुद्धम् साधारणकारणतः समुत्पन्नकार्यस्य साधारणत्वाविरोधात्। कारणानुरूपं कार्यमिति न निषेद्धं पार्यते, सकलनैयायिकलोकप्रसिद्धत्वात्। उक्तं च---

साहारणमाहारो साहारणमाणपाण-गहणं च।
साहारण-जीवाणं साहारण लक्खणं भणियं[1] ॥ १४५ ॥
जत्थेक्कु मरइ जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं।
वक्कमदि जत्थ एक्को वक्कमणं तत्थ णंताणं[2] ॥ १४६ ॥

विशेषार्थ--- बादरत्व पांचों स्थावर और त्रसोंमें पाया जाता है, परंतु सूक्ष्मत्व प्रत्येकवनस्पति और त्रसोंमें नहीं पाया जाता है। इसलिये बादर उत्सर्ग विधि है, सूक्ष्मत्व नहीं।
आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जिन जीवोंका साधारण अर्थात् भिन्न भिन्न शरीर न होकर समानरूपसे एक शरीर पाया जाता है उन्हें साधारणशरीर जीव कहते हैं।

शंका--- जीवोंसे अलग अलग बंधे हुए पुद्गलविपाकी होनेसे आहार वर्गणाके स्कन्धोंको शरीरके आकाररूपसे परिणमन करानेमें कारणरूप और भिन्न-भिन्न जीवोंको भिन्न-भिन्न फल देनेवाले औदारिक नोकर्मस्कन्धोंके द्वारा अनेक जीवोंके एक शरीर कैसे उत्पन्न किया जा सकता है, क्योंकि, ऐसा माननेमें विरोध आता है ?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, जो एकदेशमें अवस्थित हैं और जो एकदेशमें अवस्थित तथा परस्पर संबद्ध जीवोंके साथ समवेत हैं, ऐसे पुद्गल वहां पर स्थित संपूर्ण जीवसंबन्धी एक शरीरको उत्पन्न करते हैं इसमें कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि, साधारण कारणसे उत्पन्न हुआ कार्य भी साधारण ही होता है। कारणके अनुरूप ही कार्य होता है, इसका निषेधभी तो नहीं किया जा सकता है, क्योंकि, यह बात संपूर्ण नैयायिक लोगोंमें प्रसिद्ध है। कहा भी है---

साधारण जीवोंका साधारण ही आहार होता है और साधारण ही श्वासोच्छ्वासका ग्रहण होता है। इस प्रकार परमागममें साधारण जीवोंका साधारण लक्षण कहा है ॥ १४५ ॥

साधारण जीवोंमें जहां पर एक जीव मरण करता है वहां पर अनन्त जीवोंका मरण होता है। और जहां पर एक जीव उत्पन्न होता है वहां पर अनन्त जीवोंका उत्पाद होता हैं ॥ १४६ ॥

१ प्रा. पं. १ ८२। गो. जी. १९२ च शब्देन शरीरेन्द्रियपर्याप्तिद्वयं समुच्चयीकृतम्। जी. प्र. टी.। आचा. नि. १३६.

२ प्रा. पं. १ ८३। गो. जी. १९३. एकनिगोदशरीरे प्रतिसमयमनन्तानन्तजीवास्तावत् सहैव म्रियन्ते सहैवोत्पद्यन्ते यावदसंख्यातसागरोपमकोटिमात्री असंख्यातलोकमात्रसमयप्रमिता उत्कृष्टनिगोदकायस्थितिः

एय-णिगोद-सरीरे जीवा दव्व-प्पमाणदो दिट्ठा ।
सिद्धेहि अणंत-गुणा सव्वेण वितीद-कालेण[1] ॥ १४७ ॥
अत्थि अणंता जीवा जेहि ण पत्तो तसाण परिणामो ।
भाव-कलंकइपउरा णिगोद-वासं ण मुंचंति[2] ॥ १४८ ॥

ते तादृक्षाः सन्तीति कथमवगम्यत इति चेन्न, आगमस्यातर्कगोचरत्वात् । न हि प्रमाणप्रकाशितार्थावगतिः प्रमाणान्तरप्रकाशमपेक्षते, स्वरूपविलोपप्रसङ्गात् । न चैतत्प्रामाण्यमसिद्धम् सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणस्यासिद्धत्वविरोधात् । बादर-निगोदप्रतिष्ठिताश्चार्षान्तरेषु श्रूयन्ते, क्व तेषामन्तर्भावश्चेत् ? प्रत्येकशरीरवनस्पतिष्विति ब्रूमः । के ते ? स्नुगार्द्रकमूलकादयः ।

द्रव्य-प्रमाणकी अपेक्षा सिद्धराशि और संपूर्ण अतीत कालसे अनन्तगुणे जीव एक निगोद-शरीरमें देखे गये हैं ॥ १४७ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नित्य निगोदमें ऐसे अनन्तानन्त जीव हैं जिन्होंने अभीतक त्रस जीवोंकी पर्याय नहीं पाई है, और जो भाव अर्थात् निगोद पर्यायके योग्य कषायके उदयसे उत्पन्न हुई दुर्लेश्यारूप परिणामोंसे अत्यन्त अभिभूत रहते हैं, इसलिये निगोद-वासको कभी नहीं छोड़ते ॥ १४८ ॥

शंका— साधारण जीव उक्त लक्षणवाले होते हैं यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान— ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, आगम तर्कका विषय नहीं है। एक प्रमाणसे प्रकाशित अर्थज्ञान दूसरे प्रमाणके प्रकाशकी अपेक्षा नहीं करता है, अन्यथा प्रमाणके स्वरूपका अभाव प्राप्त हो जायगा । तथा आगमकी प्रमाणता असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि, जिसके बाधक प्रमाणोंकी असंभावना अच्छी तरह निश्चित है उसको असिद्ध माननेमें विरोध आता है । अर्थात् बाधक प्रमाणोंके अभावमें आगमकी प्रमाणताका निश्चय होता ही है।

शंका— बादर निगोदोंसे प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति दूसरे आगमोंमें सुनी जाती है, उसका अन्तर्भाव वनस्पतिके किस भेदमें होगा ?

समाधान— प्रत्येक शरीर वनस्पतिमें उसका अन्तर्भाव होगा, ऐसा हम कहते हैं ।

शंका— जो बादरनिगोदसे प्रतिष्ठित हैं वे कौन हैं ?

समाधान— थूहर, अदरख और मूली आदिक वनस्पति बादर निगोदसे प्रतिष्ठित हैं ।

परिसमाप्यते । अत्र विशेषश्च टीकातोऽवसेयः । जी. प्र. टी ।

१ प्रा. पं. १, ८४ । गो. जी. १९६. ननु अष्टसमयाधिकषण्मासाभ्यन्तरे अष्टोत्तरषट्शतजीवेषु कर्मक्षयं कृत्वा सिद्धेषु सत्सु सिद्धराशेर्वृद्धिदर्शनात् संसारिजीवराशेश्च हानिदर्शनात् कथं सर्वदा सिद्धेभ्योऽनन्तगुणत्वं एकशरीरनिगोदजीवानाम् सर्वजीवराश्यनन्तगुणकालसमयसमूहस्य तद्योग्यानन्तभागे गते सति संसारिजीवराशिक्षयस्य सिद्धराशिबहुत्वस्य च सुघटत्वात् ? इति चेत्तन्न, केवलज्ञानदृष्टया केवलिभिः, श्रुतज्ञानदृष्ट्या श्रुतकेवलिभिश्च सदा दृष्टस्य भव्यसंसारिजीवराश्यक्षयस्यातिसूक्ष्मत्वात्तर्कविषयत्वाभावात् । प्रत्यक्षागमबाधितस्य च तर्कस्याप्रमाणत्वात् । जी. प्र. टी.

२ प्रा. पं. १, ८५। गो. जी. १९७. नित्यनिगोदलक्षणमनेन ज्ञातव्यं । × × ×एकदेशाभावविशिष्ट-सकलार्थवाचिना प्रचुरशब्देन कदाचिदष्टसमयाधिकषण्मासाभ्यन्तरे चतुर्गतिजीवराशितो निर्गतेषु अष्टोत्तर-

त्रसकायानां भेदप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह--
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तसकाइया दुविहा--पज्जत्ता अपज्जत्ता ॥ ४२ ॥

गतार्थत्वान्नास्यार्थं उच्यते। किं त्रसाः सूक्ष्मा उत बादरा इति ? बादरा एव न सूक्ष्माः। कुतः ? तत्सौक्ष्म्यविधायकार्षाभावात्। बादरत्वविधायकार्षाभावे कथं तदवगम्यत इति चेन्न, उत्तरसूत्रतस्तेषां बादरत्वसिद्धेः। के ते पृथिवीकायादय इति चेदुच्यते--

पुढवी य सक्करा वालुअ उवले सिलादि छत्तीसा[1]।
पुढवीमया हु जीवा णिद्दिट्ठा जिणवरिंदेहि[2] ॥ १४९ ॥

अब त्रसकायिक जीवोंके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

त्रसकायिक जीव दो प्रकारके होते हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त ॥ ४२ ॥

गतार्थ होनेसे इस सूत्रका अर्थ नहीं कहते हैं।

शंका--- त्रस जीव क्या सूक्ष्म होते हैं अथवा बादर ?

समाधान--- त्रस जीव बादर ही होते हैं, सूक्ष्म नहीं होते।

शंका--- यह कैसे जाना जाय ?

समाधान--- क्योंकि त्रस जीव सूक्ष्म होते हैं, इस प्रकार कथन करनेवाला आगम प्रमाण नहीं पाया जाता है।

शंका--- त्रस जीवोंके बादरपनेका प्रतिपादन करनेवाले आगम प्रमाण का अभाव होनेपर यह कैसे जाना जाता है कि वे बादर ही होते हैं ?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, आगे आनेवाले सूत्रसे त्रस जीवोंका बादरपना सिद्ध हो जाता है।

शंका--- वे पृथिवीकाय आदि जीव कौनसे हैं ?

समाधान--- जिनेन्द्र भगवान्ने पृथिवी, शर्करा बालुका उपल और शिला आदिके भेदसे पृथिवीरूप छत्तीस प्रकारके जीव कहे हैं ॥ १४९ ॥

विशेषार्थ--- यहां पर जो पृथिवीके अवान्तर भेदोंकी अपेक्षा पृथिवीकायिक जीव छत्तीस प्रकारके कहे हैं, वे इस प्रकार हैं; मट्टीरूप पृथिवी, गंगा आदि नदियोंमें उत्पन्न होनेवाली रूक्ष बालुका, तीक्ष्ण और चौकोर आदि आकारवाली शर्करा, गोल पत्थर, बड़ा पत्थर, समुद्रादिमें उत्पन्न होनेवाला नमक, लोहा, तांबा, जस्ता, सीसा, चांदी, सोना, वज्र (हीरा), हरिताल, इंगुल, मैनसिल, हरे रंगवाला सस्यक, अंजन, मूंगा, भोड़ल, चिकनी और चमकती हुई रेती,

---

पट्शतजीवेषु मुक्ति गतेषु तावंतो जीवा नित्यनिगोदभावं त्यक्त्वा चतुर्गतिभवं प्राप्नुवंतीत्ययमर्थः प्रतिपादितो बोद्धव्यम्। जी. प्र. टी.

१ पुढवी य बालुगा सक्करा य उवले सिला य लोणे य। अय तंब तउ य सीसय रूप्प सुवण्णे य वइरे य ॥ हरिदाले हिंगुलए मणोसिला सस्सगंजण पवाले य। अब्भपडलब्भवालु य बादरकाया मणिविधीया॥ गोमज्झगे य रुजगे अंके फलहे य लोहिदंके य। चंदप्पभ वेरुलिए जलकंते सूरकंते य॥ गेरुय चंदण बव्वग वगमोए तह मसारगल्लो य। ते जाण पुढविजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा॥ मूलाचा. २०६-२०९। आचा. नि. ७३-७६। उत्त. ३६-७४-७७। प्रज्ञा. १. १७. २ प्रा. पं. १, ७७।

ओसा हिमो य धूमरि हरदणु सुद्धोदवो घणोदो य[1]।
एदे दु आउकाया जीवा जिण-सासणुद्दिट्ठा ॥ १५० ॥
इंगाल-जाल-अच्ची मुम्मुर-सुद्धागणी तहा अगणी[2]।
अण्णे वि एवमाई तेउक्काया समुद्दिट्ठा ॥ १५१ ॥
वाउब्भामो उक्कलि-मंडलि-गुंजा महा घणो य तणू ।
एदे दु वाउकाया जीवा जिण-इंद-णिद्दिट्ठा[3] ॥ १५२ ॥
मूलग्ग-पोर-बीया कंदा तह खंध-बीय-बीयरुहा ।
सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य[4] ॥ १५३ ॥

कर्केतनमणि, राजवर्तकरूप मणि, पुलकवर्णमणि, स्फटिकमणि, पद्मरागमणि, चन्द्रकान्तमणि, वैडूर्यमणि, जलकान्तमणि, सूर्यकान्तमणि, गेरुवर्ण रुधिराक्षमणि, चन्दनगन्धमणि, अनेक प्रकारका मरकतमणि, पुखराज, नीलमणि और विद्रुमवर्णवाली मणि ये सब पृथिवीके भेद हैं, इसलिये इनके भेदसे पृथिवीकायिक जीव भी छत्तीस प्रकारके हो जाते हैं ॥ १४९ ॥

ओस, बर्फ, कुहरा, स्थूल बिन्दुरूप जल, सूक्ष्म बिन्दुरूप जल, चन्द्रकान्तमणिसे उत्पन्न हुआ शुद्ध जल, झरना आदिसे उत्पन्न हुआ जल, समुद्र, तालाब और घनवात आदिसे उत्पन्न हुआ घनोदक अथवा हरदणु अर्थात् तालाब और समुद्र आदिसे उत्पन्न हुआ जल तथा घनोदक अर्थात् मेघ आदिसे उत्पन्न हुआ जल ये सब जिन शासनमें जलकायिक जीव कहे गये हैं ॥१५०॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अंगार, ज्वाला, अर्चि अर्थात् अग्निकिरण, मुर्मुर अर्थात् भूसा अथवा कण्डाकी अग्नि, शुद्धाग्नि अर्थात् बिजली और सूर्यकान्त आदिसे उत्पन्न हुई अग्नि और धूमादिसहित सामान्य अग्नि, ये सब अग्निकायिक जीव कहे गये हैं ॥ १५१ ॥

सामान्य वायु, उद्भ्राम अर्थात् घूमता हुआ ऊपर जानेवाला वायु (चक्रवात), उत्कलि अर्थात् नीचेकी ओर बहनेवाला या जलकी तरंगोंके साथ तरंगित होनेवाला वायु, मण्डलि अर्थात् पृथिवीसे स्पर्श करके घूमता हुआ वायु, गुंजा अर्थात् गुंजायमान वायु, महावात अर्थात् वृक्षादिकके भंगसे उत्पन्न होनेवाला वायु, घनवात और तनुवात ये सब वायुकायिक जीव जिनेन्द्र भगवानने कहे हैं ॥ १५२ ॥

मूलबीज, अग्रबीज, पर्वबीज, कन्दबीज, स्कन्धबीज, बीजरुह और संमूर्छिम, ये सब

---

१ प्रा. । पं. १, ७८ । ओसा य हिमग महिगा हरदणु सुद्धोदगे घणुदगे य । ते जाण आउजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥ मूलाचा. २१० । आचा. नि. १०८ । उत्त. ३६.८६ । प्रज्ञा. १.२०.

२ प्रा. पं. १, ७९ । मूलाचा. २११ । आचा. नि. ११८ । उत्त. ३६. ११०–१११ । प्रज्ञा. १.२३.

३ प्रा. पं. १, ८० । मूलाचा. २१२. उक्कलिया मंडलिया गुंजा घणवाय सुद्धवाया य । बादर वाउविहाणा पंचविहा वण्णिया एए ॥ आचा. नि. १६६ । उत्त. ३६. ११९–१२० । प्रज्ञा. १. २६.

४ प्रा. पं. १, ८१ । गो. जी. १८६ । मूलाचा. २१३. मूल मूलबीजा जीवा येषां मूलं प्रादुर्भवति ते च हरिद्रादयः । अग्ग-अग्रबीजा जीवाः कोरंटकमल्लिका कुब्जकादयो येषामग्रं प्ररोहति । पोरबीया पौरबीज-

बिहि तीहि चउहि पंचहि सहिया जे इंदिएहि लोयम्मि ।
ते तसकाया जीवा णेया बीरोवएसेण[1] ॥ १५४ ॥

पृथिवीकायादीनां[2] स्वरूपमभिधाय साम्प्रतं तेषु गुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तर-सूत्रमाह--

पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणप्फइ-काइया एक्कम्मि चेय मिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे[3] ॥ ४३ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आह, आप्तागमविषयश्रद्धारहिता मिथ्यादृष्टयो भण्यन्ते । श्रद्धाभावश्चाश्रद्धेय-वस्तुपरिज्ञानपूर्वकः । तथा च पृथिवीकायादीनामाप्तागमविषयपरिज्ञानोज्झितानां कथं

वनस्पतियाँ सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येकके भेदसे दोनों प्रकारकी कही गई हैं ॥ १५३ ॥

लोकमें जो जीव दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पांच इन्द्रियोंसे युक्त हैं उन्हें वीर भगवानके उपदेशसे त्रसकायिक जीव जानना चाहिये ॥ १५४ ॥

पृथिवीकायिक आदि जीवोंके स्वरूपका कथन करके अब उनमें गुणस्थानोंका निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीव मिथ्यादृष्टि नामक प्रथम गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ ४३ ॥

शंका-- शंकाकार कहता है कि आप्त, आगम और पदार्थोंकी श्रद्धासे रहित जीव मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं, और श्रद्धान करने योग्य वस्तुमें विपरीत ज्ञानपूर्वक ही अश्रद्धा अर्थात् मिथ्याभिनिवेश हो सकता है । ऐसी अवस्थामें आप्त, आगम और पदार्थके परिज्ञानसे रहित पृथिवीकायिक आदि जीवोंके मिथ्यादृष्टिपना कैसे संभव है ?

जीवा इक्षुवेत्रादयो येषां पोरप्रदेशः प्रारोहति । कंदा कन्दजीवाः कदलीपिण्डालुकादयो येषां कन्ददेशः प्रादुर्भवति । तह तथा । खंधवीया स्कन्धबीजजीवाः शल्लकीपालिभद्रकादयो येषां स्कन्धदेशो रोहति । बीयबीया बीजबीजा जीवा यवगोधूमादयो येषां क्षेत्रोदकादिसामग्र्याः प्ररोहः । सम्मुच्छिमा य सम्मूर्च्छिमाश्च मूलाद्य-भावेऽपि येषां जन्म । ×× पत्तेया प्रत्येकजीवाः पूगफलनालिकेरादयः । अणंतकाया य अनन्तकायाश्च स्नुहीगुडूच्यादयः, ये छिन्ना भिन्नाश्च प्ररोहन्ति । ×× स. टी. अग्गबीया मूलबीया खंधबीया चेवं पोरबीया य । बीयरुहा सम्मुच्छिम समासओवणसई जीवा ॥ आचा. नि. १३० । उत्त. ३६. ९३-१०० । प्रज्ञा. १.२९-४४.

१ प्रा. पं. १, ८६ । गो. जी. १९८.

२ मु. पृथिवीकायिकादीनां ।

३ कायानुवादेन पृथिवीकायादिषु वनस्पतिकायान्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम् । स. सि. १. ८.

मिथ्यादृष्टित्वमिति ! नैष दोषः, परिज्ञाननिरपेक्षमूलमिथ्यात्वसत्त्वस्य[1] तत्राविरोधात् । अथवा ऐकान्तिकसांशयिकमूढव्युद्ग्राहितवैनयिकस्वाभाविकविपरीतमिथ्यात्वानां सप्तानामपि तत्र सम्भवः समस्ति । अत्रतनजीवानां सप्तविधमिथ्यात्वकलङ्काङ्कित-हृदयानामविनष्टमिथ्यात्वपर्यायेण सह स्थावरत्वमुपगतानां तत्सत्त्वाविरोधात् । इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियाश्च सर्वे मिथ्यादृष्टय इत्यभाणि, ततस्तेनैव गतार्थत्वान्नारम्भणीयमिदं सूत्रमिति ? नैष दोषः, पृथिवीकायिकादीनामियन्तीन्द्रियाणि भवन्ति न भवन्तीति अनवगतस्य विस्मृतस्य वा शिष्यस्य प्रश्नवशादस्य सूत्रस्यावतारात् ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

त्रसजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह––

तसकाइया बीइंदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति[2] ॥४४॥

एते त्रसनामकर्मोदयवशवर्तिनः । के पुनः स्थावराः इति चेत् ? एकेन्द्रियाः

समाधान––– यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, पृथिवीकायिक आदि जीवोंमें परिज्ञानकी अपेक्षारहित मूल मिथ्यात्वका सद्भाव होनेमें कोई विरोध नहीं आता है । अथवा, ऐकान्तिक, सांशयिक, मूढ, व्युद्ग्राहित, वैनयिक, स्वाभाविक और विपरीत इन सातों प्रकारके मिथ्यात्वोंका भी उन पृथिवीकायिक आदि जीवोंमें सद्भाव संभव है, क्योंकि, जिनका हृदय सात प्रकारके मिथ्यात्वरूपी कलंकसे अंकित है ऐसे मनुष्यादि गतिसंबन्धी जीव पहले ग्रहण की हुई मिथ्यात्वपर्यायको न छोड़कर जब स्थावर पर्यायको प्राप्त हो जाते हैं, तो उनके सातों ही प्रकारका मिथ्यात्व पाया जाता है, इस कथन में कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका––– इन्द्रियानुवादसे एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय ये सब जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं, ऐसा कह आये हैं, इसलिये उसीसे यह ज्ञान हो जाताहै कि पृथिवीकायिक आदि जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं । अतः इस सूत्रको पृथक् रूपसे बनानेकी कोई आवश्यकता नहीं थी ?

समाधान––– यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, पृथिवीकायिक आदि जीवोंके इतनी इन्द्रियां होती हैं, अथवा इतनी इन्द्रियां नहीं होती हैं, इस प्रकार जिस शिष्यको ज्ञान नहीं है, अथवा जो भूल गया है, उस शिष्यके प्रश्नके अनुरोधसे इस सूत्रका अवतार हुआ है ।

अब त्रस जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं––

द्वीन्द्रियसे आदि लेकर अयोगिकेवलीतक त्रसकायिक जीव होते हैं ॥ ४४ ॥

इन सब जीवोंके त्रस नामकर्मका उदय पाया जाता है, इसलिये इन्हें त्रसकायिक कहते हैं ।

शंका––– स्थावर जीव कौन कहलाते हैं ?

समाधान––– एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहलाते हैं ।

---

१ मु. मूढ.　　२ त्रसकायेषु चतुर्दशापि सन्ति । स. सि. १. ८.

कथमनुक्तमवगम्यते चेत्परिशेषात् । स्थावरकर्मणः किं कार्यमिति चेदेकस्थानावस्थापकत्वम् । तेजोवाय्वप्कायिकानां चलनात्मकानां तथा सत्यस्थावरत्वं स्यादिति चेन्न, स्थास्नूनां प्रयोगतश्चलच्छिन्नपर्णानामिव गतिपर्यायपरिणतसमीरणाव्यतिरिक्तशरीरत्वतस्तेषां गमनाविरोधात् ।

बादरजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

बादरकाइया बादरेइंदिय प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ॥ ४५ ॥

बादरः स्थूलः सप्रतिघातः कायो येषां ते बादरकायाः । पृथिवीकायिकादिषु वनस्पतिपर्यन्तेषु पूर्वमेव बादराणां सूक्ष्माणां च सत्त्वमुक्तं ततोऽत्र बादरैकेन्द्रियग्रहणमनर्थकमिति चेन्नानर्थकम्, प्रत्येकशरीरवनस्पत्युपादानार्थम् तदुपादानात्प्रत्येकशरीर-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

....

शंका— सूत्रमें एकेन्द्रिय जीवोंको स्थावर तो कहा नहीं है, फिर [illegible] जाना जाय कि एकेन्द्रिय जीवोंको स्थावर कहते हैं ?

समाधान— सूत्रमें जब द्वीन्द्रियादिक जीवोंको त्रसकायिक कहा है, तो परिशेषन्यायसे यह जाना जाता है कि एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहलाते हैं ।

शंका— स्थावरकर्मका क्या कार्य है ?

समाधान— एक स्थान पर अवस्थित रखना स्थावरकर्मका कार्य है ।

शंका— ऐसा मानने पर, गमन स्वभाववाले अग्निकायिक, वायुकायिक और जलकायिक जीवोंका अस्थावरपना प्राप्त हो जायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार वृक्षमें लगे हुए पत्ते वायुके प्रयोगसे हिला करते हैं और टूटने पर इधर उधर उड़ जाते हैं, उसी प्रकार अग्निकायिक और जलकायिकके गमन होनेमें कोई विरोध नहीं आता है । तथा वायुके गतिपर्यायसे परिणत शरीरको छोड़कर कोई दूसरा शरीर नहीं पाया जाता है । इसलिये उसके गमन करनेमें भी कोई विरोध नहीं आता है ।

अब बादर जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

बादर एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर अयोगिकेवलीपर्यन्त जीव बादरकायिक होते हैं ॥ ४५ ॥

जिन जीवोंका शरीर बादर, स्थूल अर्थात् प्रतिघातसहित होता है उन्हें बादरकाय कहते हैं ।

शंका— पृथिवीकायिकसे लेकर वनस्पति पर्यन्त जीवोंमें बादर और सूक्ष्म दोनों प्रकारके जीवोंका सद्भाव पहले ही कह आये हैं, इसलिये इस सूत्रमें बादर एकेन्द्रिय पदका ग्रहण करना निष्फल है ?

समाधान— अनर्थक नहीं है, क्योंकि, प्रत्येकशरीर वनस्पतिके ग्रहण करनेके लिये

वनस्पतिप्रभृतयो बादरा इति यावत् । न विधातव्यमेतेषां बादरत्वं प्रत्यक्षसिद्धत्वादिति चेन्न, सौक्ष्म्याभावप्रतिपादनफलत्वात् ।

द्विविधकायातीतजीवास्तित्वप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह--

तेण परमकाइया चेदि ॥ ४६ ॥

तेन द्विविधकायात्मकजीवराशेः परं बादरसूक्ष्मशरीरनिबन्धनकर्मातीतत्वतोऽशरीराः सिद्धाः अकायिकाः। जीवप्रदेशप्रचयात्मकत्वात्सिद्धा अपि सकाया इति चेन्न, तेषामनादिबन्धनबद्धजीवप्रदेशात्मकत्वात् । अनादिप्रचयोऽपि कायः किन्न स्यादिति चेन्न, मूर्तानां पुद्गलानां कर्मनोकर्मपर्यायपरिणतानां सादिसान्तप्रचयस्य

बादर एकेन्द्रिय पद सूत्रमें ग्रहण किया गया है । इस पदके ग्रहण करनेसे प्रत्येकशरीर वनस्पति आदि सभी जीव बादर ही होते हैं यह बात स्पष्ट हो जाती है ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका--- इस सूत्रमें इन जीवोंके बादरपनेका कथन नहीं करना चाहिये, क्योंकि, ये जीव बादर ही होते हैं यह बात प्रत्यक्षसिद्ध है ?

समाधान---- नहीं, क्योंकि, इन जीवोंके केवल बादरत्वके प्रतिपादन करनेके लिये यह सूत्र नहीं रचा गया है, किंतु इन जीवोंके सूक्ष्मताके अभावका प्रतिपादन करना ही इस सूत्रके बनानेका फल है ।

अब त्रस और स्थावर इन दोनों कायोंसे रहित जीवोंके अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

स्थावर और त्रस कायसे परे कायरहित अकायिक जीव होते हैं ॥ ४६ ॥

जो उस त्रस और स्थावररूप दो प्रकारकी कायराशिसे परे हैं वे सिद्ध जीव बादर और सूक्ष्म शरीरके कारणभूत कर्मसे रहित होनेके कारण अशरीर होते हैं, अतएव अकायिक कहलाते हैं ।

शंका--- जीवप्रदेशोंके प्रचयरूप होनेके कारण सिद्ध जीव भी सकाय हैं, फिर उन्हें अकाय क्यों कहा ?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, सिद्ध जीव अनादिकालीन स्वाभाविक बन्धनसे बद्ध जीव प्रदेशस्वरूप हैं, इसलिये उसकी अपेक्षा यहां कायपना नहीं लिया गया है ।

शंका--- अनादिकालीन आत्म-प्रदेशोंके प्रचयको काय क्यों नहीं कहा ?

समाधान---- नहीं, क्योंकि, यहां पर कर्म और नोकर्मरूप पर्यायसे परिणत मूर्त पुद्गलोंके सादि और सान्त प्रदेश प्रचयको ही कायरूपसे स्वीकार किया है ।

विशेषार्थ--- यद्यपि पांच अस्तिकायोंमें सिद्ध जीवोंका भी ग्रहण हो जाता है । फिर भी यहां पर अनादिकालीन स्वाभाविक बन्धनसे बद्ध जीव-प्रदेशोंके प्रचयरूप कायकी

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कायत्वाभ्युपगमात् । 'इति' शब्द एक एवास्तु सूत्रपरिसमाप्त्यर्थत्वात्, न 'च' शब्दः, तस्य फलाभावादिति चेन्न, तस्य कायमार्गणपरिसमाप्तिप्रतिपादनफलत्वात् ।

योगद्वारेण जीवद्रव्यप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह--

जोगाणुवादेण अत्थि मणजोगी वचिजोगी कायजोगी चेदि ॥ ४७ ॥

अत्र 'इति' शब्दः सूत्रसमाप्तिप्रतिपादनफलः । 'च' शब्दश्च त्रय एव योगाः सन्ति नान्ये इति योगसंख्यानियमप्रतिपादनफलः समुच्चयार्थो वा । योगस्य लक्षणं[1] प्रागुक्तमिति नेदानीमुच्यते । मनसा योगो मनोयोगः । अथ स्यान्न द्रव्यमनसा सम्बन्धो मनोयोगः, मनोयोगस्य देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरकालस्थितिप्रसङ्गात् । न सक्रियावस्था योगः, योगस्याहोरात्रमात्रकालप्रसङ्गात् । न भावमनसा सम्बन्धो

अपेक्षा न होकर कर्म और नोकर्मके निमित्तसे होनेवाले सादि और सान्त प्रदेशप्रचयरूप कायकी अपेक्षा है । इसलिये इस विवक्षासे सिद्ध जीव अकायिक होते हैं, क्योंकि, उनके कर्म और नोकर्मके निमित्तसे होनेवाले प्रदेशप्रचयरूप कायका अभाव हो गया है ।

शंका-- सूत्रमें 'इति' यह एक ही शब्द रहा आवे, क्योंकि, उसका फल सूत्रकी परिसमाप्ति है । परंतु 'च' शब्दकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि, प्रकृतमें उसका कोई प्रयोजन नहीं है ?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, कायमार्गणाकी परिसमाप्तिका प्रतिपादन करना ही यहां पर 'च' शब्दका फल है ।

अब योगमार्गणाके द्वारा जीव द्रव्यके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

योगमार्गणाके अनुवादकी अपेक्षा मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी जीव हैं ॥४७॥

इस सूत्रमें जो 'इति' शब्द आया है उसका फल सूत्रकी समाप्तिका प्रतिपादन करना है । तथा जो 'च' शब्द दिया है उसका फल, योग तीन ही होते हैं, अधिक नहीं, इस प्रकार योगकी संख्याके नियमका प्रतिपादन करना है । अथवा 'च' शब्द समुच्चयरूप अर्थका प्रतिपादन करनेवाला समझना चाहिये ।

योगका लक्षण पहले कह आये हैं, इसलिये यहां पर नहीं कहते हैं । मनके द्वारा होनेवाले योगको मनोयोग कहते हैं ।

शंका-- यदि ऐसा है, तो द्रव्यमनसे संबन्ध होनेको तो मनोयोग कह नहीं सकते हैं, क्योंकि, ऐसा मानने पर मनोयोगकी कुछ कम तेतीस सागर प्रमाण स्थितिका प्रसंग प्राप्त हो जायगा । क्रियासहित अवस्थाको भी योग नहीं कह सकते हैं, क्योंकि, ऐसा मानने पर योगको दिन-रात्रमात्र कालका प्रसंग प्राप्त हो जायगा । अर्थात्, कोई कोई क्रिया दिन-रात

---

१ मु. योगस्य तल्लक्षणं ।

मनोयोगः, तस्य ज्ञानरूपत्वतः उपयोगान्तर्भावात् इति ? न त्रितयविकल्पोक्तदोषः, तेषामनभ्युपगमात् । कः पुनः मनोयोग इति चेद्भावमनसः समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नो मनोयोगः । तथा वचसः समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नो वाग्योगः । कायक्रियासमुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नः काययोगः । त्रयाणां योगानां प्रवृत्तिरक्रमेण उत नेति ? नाक्रमेण, त्रिष्वक्रमेणैकस्यात्मनो योगविरोधात्[1] । मनोवाक्कायप्रवृत्तयोऽक्रमेण क्वचिद् दृश्यन्त इति चेद्भवतु तासां तथा प्रवृत्तिः, दृष्टत्वात्, न तत्प्रयत्नानामक्रमेण वृत्तिः, तथोपदेशाभावादिति । अथ स्यात्प्रयत्नो हि नाम बुद्धिपूर्वकः, बुद्धिश्च मनोयोगपूर्विका, तथा च सिद्धो

रहती है, इसलिये एक योगकी स्थिति भी अहोरात्र प्रमाण माननी पड़ेगी । किंतु आगममें तो एक योगकी स्थिति एक अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नही मानी है । अतः क्रियासहित अवस्था भी योग नहीं हो सकता है । इसी प्रकार भावमनके साथ संबंध होनेको भी मनोयोग नहीं कह सकते है, क्योंकि, भावमन ज्ञानरूप होनेके कारण उसका उपयोगमें अन्तर्भाव हो जाता है ?

समाधान--- इस प्रकार तीनों विकल्पोंके द्वारा दिये गये दोष प्राप्त नहीं होते हैं, क्योंकि, उक्त तीनों ही विकल्पोंको स्वीकार नहीं किया है ।

शंका--- तो फिर मनोयोगका क्या स्वरूप है ?

समाधान--- भावमनकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते है । उसी प्रकार वचनकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे वचनयोग कहते हैं और कायकी क्रियाकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे काययोग कहते हैं ।

शंका--- तीनों योगोंकी प्रवृत्ति युगपत् होती है या नहीं ?

समाधान--- युगपत् नहीं होती है, क्योंकि, एक आत्माके तीनों योगोंकी प्रवृत्ति युगपत् मानने पर योगके विरोधका प्रसंग आजायगा । अर्थात् किसी भी आत्माके योग नहीं बन सकेगा ।

शंका--- कहीं पर मन, वचन और कायकी प्रवृत्तियां युगपत् देखी जाती हैं ?

समाधान--- यदि देखी जाती हैं, तो उनकी युगपत् वृत्ति होओ । परंतु इससे, मन वचन और कायकी प्रवृत्तिके लिये जो प्रयत्न होते हैं उनकी युगपत् वृत्ति सिद्ध नही हो सकती है, क्योंकि, आगममें इस प्रकार उपदेश नहीं मिलता है ।

विशेषार्थ--- तीनों योगोंकी प्रवृत्ति एकसाथ हो सकती है, प्रयत्न नहीं ।

शंका--- प्रयत्न बुद्धिपूर्वक होता है, और बुद्धि मनोयोगपूर्वक होती है । ऐसी परिस्थितिमें मनोयोग शेष योगोंका अविनाभावी है, यह बात सिद्ध हो जाना चाहिये ? अर्थात् अनेक प्रयत्न एक साथ होते हैं यह बात सिद्ध हो जायगी ?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, कार्य और कारण इन दोनोंकी एक कालमें उत्पत्ति नहीं हो सकती है ।

---

१ मु. योगनिरोधात् ।

मनोयोगः शेषयोगाविनाभावीति ? न, कार्यकारणयोरेककाले समुत्पत्तिविरोधात् । तदस्यास्त्यस्मिन्निति इनि सति सिद्धं मनोयोगी वाग्योगी काययोगीति ।

योगातीतजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह––

अजोगी चेदि ॥४८॥

मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

[illegible] अयो[illegible] उक्तं च–

जेंसि ण सन्ति जोगा सुहासुहा पुण्ण-पाव संजणया ।
ते होंति अजोगिजिणा अणोवमाणंत-बल-कलिया[1] ॥ १५५ ॥

मनोयोगस्य सामान्यतः एकविधस्य भेदप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह––

मणजोगो चउव्विहो–सच्चमणजोगो मोसमणजोगो सच्चमोसमणजोगो असच्चमोसमणजोगो ॥४९॥

सत्यमवितथममोघमित्यनर्थान्तरम् । सत्ये मनः सत्यमनः, तेन योगः सत्यमनोयोगः। तद्विपरीतो मोषमनोयोगः। तदुभययोगात्सत्यमोषमनोयोगः। उक्तं च–

वह मनोयोग जिसके या जिस जीवमें होता है उसे मनोयोगी कहते हैं । यहां पर मनोयोग शब्दसे ' इन् ' प्रत्यय कर देने पर मनोयोगी शब्द बन जाता है । इसी प्रकार वाग्योगी और काययोगी शब्द भी बन जाते हैं ।

अब योग रहित जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

अयोगी जीव हैं ॥ ४८ ॥

जिनके योग नहीं पाया जाता है वे अयोगी हैं । कहा भी है––

जिन जीवोंके पुण्य और पापके उत्पादक शुभ और अशुभ योग नहीं पाये जाते हैं वे अनुपम और अनन्त-बल सहित अयोगीजिन कहलाते हैं ॥ १५५ ॥

सामान्यकी अपेक्षा एक प्रकारके मनोयोगके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मनोयोग चार प्रकारका है, सत्यमनोयोग, मृषामनोयोग सत्यमृषामनोयोग और असत्यमृषामनोयोग ॥ ४९ ॥

सत्य, अवितथ और अमोघ ये एकार्थवाची शब्द हैं । सत्यके विषयमें होनेवाले मनको सत्यमन कहते हैं, और उसके द्वारा जो योग होता है उसे सत्यमनोयोग कहते हैं । इससे विपरीत योगको मृषामनोयोग कहते हैं । जो योग सत्य और मृषा इन दोनोंके संयोगसे उत्पन्न ह ेाता है उसे सत्यमृषामनोयोग कहते हैं । कहा भी है––

---

१ प्रा. पं. १, १०० । गो. जी. २४३. अत्र योगाभावे सति अयोगिकेवल्यादीनां बलाभावः प्रसज्यते अस्मदादिषु बलस्य योगाश्रितत्वदर्शनात्, इत्याशंक्य इदमुच्यते अनुपमानन्तबलकलिताः । जी. प्र. टी.

सब्भावो सच्चमणो जो जोगो तेण सच्चमणजोगो ।
तव्विवरीदो मोसो जाणुभयं सच्चमोसं ति[1] ॥ १५६ ॥

ताभ्यां सत्यमोषाभ्यां व्यतिरिक्तोऽसत्यमोषमनोयोगः । तद्‌र्चुभयसंयोगजोऽस्तु ? न, तस्य तृतीयभङ्गेऽन्तर्भावात् । कोऽपरश्चतुर्थो मनोयोग इति चेदुच्यते । समनस्केषु मनःपूर्विका वचसः प्रवृत्तिः अन्यथानुपलम्भात् । तत्र सत्यवचननिबन्धनमनसा योगः सत्यमनोयोगः । तथा मोषवचननिबन्धनमनसा योगो मोषमनोयोगः । उभयात्मकवचननिबन्धनमनसा योगः सत्यमोषमनोयोगः । त्रिविधवचनव्यतिरिक्तामन्त्रणादिवचननिबन्धनमनसा योगोऽसत्यमोषमनोयोगः । नायमर्थो मुख्यः, सकलमनसामव्यापकत्वात् । कः पुनर्निरवद्योऽर्थश्चेद्यथावस्तु प्रवृत्तं मनः सत्यमनः ।

सद्भाव अर्थात् सत्यार्थको विषय करनेवाले मनको सत्यमन कहते हैं और उससे जो योग होता है उसे सत्यमनोयोग कहते हैं । इससे विपरीत योगको मृषामनोयोग कहते हैं । उभयरूप योगको सत्यमृषामनोयोग जानो ॥ १५६ ॥

सत्यमनोयोग और मृषामनोयोगसे व्यतिरिक्त योगको असत्यमृषामनोयोग कहते हैं ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका—– तो असत्यमृषामनोयोग (अनुभय) उभयसंयोगज रहा आवे ?

समाधान—– नहीं, क्योंकि, उभयसंयोगजका तीसरे भेदमें अन्तर्भाव हो जाता है ।

शंका—– तो फिर इनसे भिन्न चौथा अनुभय मनोयोग कौनसा है ?

समाधान—– समनस्क जीवोंमें वचनप्रवृत्ति मनपूर्वक देखी जाती है, क्योंकि, मनके बिना उनमें वचनप्रवृत्ति नहीं पाई जाती है । इसलिये उन चारोंमेंसे सत्यवचननिमित्तक मनके निमित्तसे होनेवाले योगको सत्यमनोयोग कहते हैं । असत्य वचन-निमित्तक मनसे होनेवाले योगको असत्यमनोयोग कहते हैं । सत्य और मृषा इन दोनोंरूप वचननिमित्तक मनसे होनेवाले योगको उभय मनोयोग कहते हैं । उक्त तीनों प्रकारके वचनोंसे भिन्न आमन्त्रण आदि अनुभयरूप वचन-निमित्तक मनसे होनेवाले योगको अनुभयमनोयोग कहते हैं । फिर भी उक्त प्रकारका कथन मुख्य नहीं हैं, क्योंकि, इसकी संपूर्ण मनके साथ व्याप्ति नहीं पाई जाती हैं । अर्थात् उक्त कथन उपचरित है, क्योंकि, वचनकी सत्यादिकतासे मनमें सत्य आदिका उपचार किया गया है ।

शंका—– तो फिर यहां पर निर्दोष अर्थ कौनसा लेना चाहिये ?

---

१ प्रा. पं. १, ८९ । गो. जी. २१८. सद्भावः सत्यार्थः तद्विषयं मनः सत्यमनः, सत्यार्थज्ञानजननशक्तिरूपं भावमन इत्यर्थः । × × तद्विपरीतः असत्यार्थविषयज्ञानजनितशक्तिरूपभावमनसा जनितप्रयत्नविशेषः मृषा असत्यमनोयोगः । उभयः सत्यमृषार्थज्ञानजननशक्तिरूपभावमनोजनितप्रयत्नविशेषः उभयमनोयोगः। जी. प्र. टी.

विपरीतमसत्यमनः । द्वयात्मकमुभयमनः । संशयानध्यवसायज्ञाननिबन्धनमसत्यमोषमन इति । अथवा तद्वचनजननयोग्यतामपेक्ष्य चिरन्तनोऽप्यर्थः समीचीन एव । उक्तं च---

ण य सच्च-मोस-जुत्तो जो दु मणो सो असच्चमोसमणो ।
जो जोगो तेण हवे असच्चमोसो दु मणजोगो[1] ॥ १५७ ॥

मनसो भेदमभिधाय साम्प्रतं गुणस्थानेषु तत्सत्त्व[2]निरूपणार्थमुत्तरसूत्र-द्वयमाह[3]---

मणजोगो सच्चमणजोगो असच्चमोसमणजोगो सण्णि-मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ॥ ५० ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मनोयोग इति पञ्चमो मनोयोगः क्व लब्धश्चेन्नैष दोषः, चतसृणां मनोव्यक्तीनां सामान्यस्य पञ्चमत्वोपपत्तेः । किं तत्सामान्यमिति चेन्मनसः सादृश्यम् ।

समाधान---- जहां जिस प्रकारकी वस्तु विद्यमान हो, वहां उसी प्रकारसे प्रवृत्ति करने वाले मनको सत्यमन कहते हैं । इससे विपरीत मनको असत्यमन कहते हैं । सत्य और असत्य इन दोनोंरूप मनको उभयमन कहते हैं । तथा जो संशय और अनध्यवसायरूप ज्ञानका कारण है उसे अनुभय मन कहते हैं । अथवा मनमें सत्य, असत्य आदि वचनोंको उत्पन्न करनेरूप योग्यता है, उसकी अपेक्षासे चिरन्तन अर्थभी समीचीन है । कहा भी है---

जो मन सत्य और मृषासे युक्त नहीं होता है उसको असत्यमृषामन कहते हैं, और उससे जो योग अर्थात् प्रयत्नविशेष होता है उसे असत्यमृषामनोयोग कहते हैं ॥ १५७ ॥

मनोयोगके भेदोंका कथन करके अब गुणस्थानोंमें उसके सत्त्वका निरूपण करनेके लिये आगेके दो सूत्र कहते हैं---

सामान्यसे मनोयोग और विशेषरूपसे सत्यमनोयोग तथा असत्यमृषामनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त होते हैं ॥ ५० ॥

शंका--- चार मनोयोगोंके अतिरिक्त मनोयोग इस नामका पांचवां मनोयोग कहांसे आया ?

समाधान--- यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, भेदरूप चार प्रकारके मनोयोगोंमें रहनेवाले सामान्य योगके पांचवी संख्या बन जाती है ।

शंका--- वह सामान्य क्या है जो चार प्रकारके मनोयोगोंमें पाया जाता है ?

समाधान---- यहां पर सामान्यसे मनकी सदृशताका ग्रहण करना चाहिये ।

---

१ प्रा. पं. १, ९० । गो. जी. २१९, २ मु. तत्स्वरूप । ३ मु. सूत्रमाह ।

मनसः समुत्पत्तये प्रयत्नो मनोयोगः । पूर्वप्रयोगात् प्रयत्नमन्तरेणापि मनसः प्रवृत्तिर्दृश्यते इति चेद्भवतु, न तेन मनसा योगोऽत्र मनोयोग इति विवक्षितः, तन्निमित्तप्रयत्नसम्बन्धस्य विवक्षितत्वात्[1] ।

भवतु केवलिनः सत्यमनोयोगस्य सत्त्वम् तत्र वस्तुयाथात्म्यावगतेः सत्त्वात् । नासत्यमोषमनोयोगस्य सत्त्वम्, तत्र संशयानध्यवसाययोरभावादिति ? न, संशयानध्यवसायनिबन्धनवचनहेतुमनसोऽप्यसत्यमोषमनस्त्वमस्तीति तत्र तस्य सत्त्वाविरोधात् । किमिति केवलिनो वचनं संशयानध्यवसायजनकमिति चेत्[2] स्वार्थानन्त्याच्छ्रोतुरावरणक्षयोपशमातिशयाभावात् । तीर्थंकरवचनमनक्षरत्वाद् ध्वनिरूपम्, तत एव तदेकम् । एकत्वान्न तस्य द्वैविध्यं घटत इति चेन्न, तत्र स्यादित्यादि असत्यमोषवचनसत्त्व-

मनकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं ।

शंका— पूर्व-प्रयोगसे प्रयत्नके विना भी मनकी प्रवृत्ति देखी जाती है ?

समाधान— यदि प्रयत्नके विना भी मनकी प्रवृत्ति होती है तो होने दो, क्योंकि, ऐसे मनसे होनेवाले योगको मनोयोग कहते हैं, यह अर्थ यहां पर विवक्षित नहीं है । किंतु मनके निमित्तसे जो प्रयत्नविशेष होता है, वह यहां पर योगरूपसे विवक्षित है ।

शंका— केवली जिनके सत्यमनोयोगका सद्भाव रहा आवे, क्योंकि, वहां पर वस्तुके यथार्थ ज्ञानका सद्भाव पाया जाता है । परंतु उनके असत्यमृषामनोयोगका सद्भाव संभव नहीं है, क्योंकि, वहां पर संशय और अनध्यवसायरूप ज्ञानका अभाव है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, संशय और अनध्यवसायके कारणरूप वचनका कारण मन होनेसे उसमें भी अनुभयरूप धर्म रह सकता है । अतः सयोगी जिनमें अनुभय मनोयोगका सद्भाव स्वीकार कर लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका— केवलीके वचन संशय और अनध्यवसायको पैदा करते हैं इसका क्या तात्पर्य है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, केवलीके ज्ञानके विषयभूत पदार्थ अनन्त होनेसे और श्रोताके आवरणकर्मका क्षयोपशम अतिशयरहित होनेसे केवलीके वचनोंके निमित्तसे संशय और अनध्यवसायकी उत्पत्ति हो सकती है ।

शंका— तीर्थंकरके वचन अनक्षररूप होनेके कारण ध्वनिरूप हैं, और इसलिये वे एकरूप हैं, और एकरूप होनेके कारण वे सत्य और अनुभय इस प्रकार दो प्रकारके नहीं हो सकते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, केवलीके वचनमें 'स्यात्' इत्यादिरूपसे अनुभयरूप वचनका सद्भाव पाया जाता है, इसलिये केवलीकी ध्वनि अनक्षरात्मक है यह बात असिद्ध है ।

१ मु. सम्बन्धस्य परिस्पन्दरूपस्य विवक्षितत्वात् । २ मु. चेत्स्वार्था